सोमसी

4980

सोमसी

कला, संस्कृति और भाषा की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष 12 | अप्रैल, 1986 | अंक 2

सम्पादक **डॉ० बंशीराम शर्मा** सहायक सम्पादक **सरोज सांख्यायन** आवरण **ओम सुजानपुरी**	46	जनवरी, अप्रैल, जुलाई व अक्तूबर में प्रकाश्य लेखक द्वारा दिए गए तथ्यों तथा विचारों से सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं।

वार्षिक सदस्यता शुल्क : 12.00 रुपये

एक प्रति : 3.00 रुपये

हिमाचल-कला, संस्कृति और भाषा अकादमी

विलफ एण्ड एस्टेट, शिमला-171 001

सोमसी/अप्रैल 1986

इस अंक में

पृष्ठ	लेख	लेखक
5	संस्कृति : शब्दार्थ का इतिहास	डा० ब्रह्मदत्त शर्मा
9	कुल्लू के लोक-गीत—आर्थिक संदर्भ	देविका ठाकुर
26	राजा रसालू का झेडा	योगेन्द्र सिंह तूर
29	कांगड़ा का ऐतिहासिक परिदृश्य तथा वहां के लोक साहित्य की रूपरेखा	रजनी बाला धींगड़ा
35	अमर वीर चरनू	पन्ना लाल जोगटा
41	महासुवी लोक-काव्य में पुष्प त्यौहार की महिमा	कृष्ण चन्द्र काएथ
46	महासू देवता का नृत्य	कुशल देव
49	सिरमौर के उत्सव-त्यौहार	एस० आर० पुंडीर
65	बसोआ : एक विवेचन	नरेन्द्र अरुण
71	बरसात के तीन त्यौहार	सुदर्शन डोगरा
78	लोक नृत्यों के प्रकार	सुरजीत सिंह पटियाल
82	भरमौर क्षेत्र के देवी-देवता	अमर सिंह रणपतिया
97	कुमारसैन रियासत का भारथ	अमृत कुमार शर्मा

सम्पादकीय

शिवालिक पर्वत-श्रृंखला में प्राप्त हुए जीवावशेषों से नृतत्व शास्त्रियों की इस धारणा को बल मिला है कि मानव का विकास शिवालिक क्षेत्र में ही हुआ। इन जीवावशेषों के काल-निर्धारण से पता चलता है कि आदिम मानव अति प्राचीन काल में प्रथम आंतरिक हिमयुग की समाप्ति से लेकर बाद के तीन युगों तथा दो आंतरिक हिमयुगों तक रहता रहा। शिवालिक क्षेत्र तथा हिमालय की पहाड़ियों में प्राप्त पाषाण युग के अवशेषों ने आदि मानव की इस क्षेत्र ने उपस्थिति को पुष्ट किया है।

गेहूं के उगाये जाने के सम्बन्ध में वनस्पति-शास्त्रियों का मत है कि इस अनाज की खेती सर्वप्रथम हिमाचल और हिंदुकुश की तलहटी में पंजाब के किसी स्थान पर हुई होगी। लाहुल क्षेत्र के सिसू गांव में, वहां के ग्राम देवता राजा घेपन (गेपङ्) के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि लाहुल घाटी में जौ तथा गेहूं के अनाज वही लाया था। घेपन के भंडार में गेहूं के एक बहुत बड़े दाने का उपलब्ध होना अब भी पाया जाता है। अत: पता चलता है कि जौ तथा गेहूं की खेती सर्वप्रथम हिमाचल के कुछ भागों में हुई होगी।

इसी तरह आग्नेय परिवार की जातियां यथा, कोल, किरात, किन्नर, नाग तथा निषाद आदि इन क्षेत्रों के मूल निवासी थे। बाद में द्रविड़ों ने आकर उन्हें यहां से खदेड़ना चाहा। यही बात हिमालय क्षेत्र की बोलियों पर विभिन्न भाषा परिवारों के प्रभाव को पुष्ट करती है।

हिन्दू धर्म में नाग तथा गणेश आदि जीव तथा पशु देवता का समावेश कोल जाति के कारण ही हुआ। किरात तथा खश बाद में हिमालय में आए। खशों को आर्यों की ही एक शाखा माना जाता है तथा हिमालय के भीतरी भागों में खशों का अस्तित्व अभी तक विद्यमान है।

शिवालिक क्षेत्र की लोक संस्कृति का अध्ययन करने पर पता चलता है कि कोल जाति के लोगों का ही इस क्षेत्र की संस्कृति पर प्रभाव पड़ा है। तदुपरान्त किरात खश आदि जातियों के लोगों का।

उपरोक्त सभी जातियों में खश व नाग हिमालय की सशक्त जातियां हैं जिन्होंने अपनी संस्कृति की छाप हमारी संस्कृति पर छोड़ी है।

खश हिमालय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण जाति रही है। हिमाचल के लोक-नाट्य लोक-संस्कृति पर उक्त जाति के कुछ एक प्रभाव इसका प्रमाण हैं। हिमाचल प्रदेश की भौगोलिक सीमाओं को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि अनेक जातियों के लोग इस क्षेत्र में आए और अपनी संस्कृति की छाप छोड़ गए। भारत अनेक संस्कृतियों का संगमस्थल है और हिमालय इनका पुरातात्विक संग्रहालय है।

शिवालिक प्रदेश की प्राचीन लोक-संस्कृति, लोक-इतिहास को विद्वान लेखकों के लेखों द्वारा कायम रखने का माध्यम है अकादमी की पत्रिका सोमसी। सोमसी पत्रिका भी कुछ इसी प्रकार की संगम स्थली है जिसमें प्रदेश तथा बाहर की संस्कृतियों को एक साथ पाठकों के सम्मुख रखा जाता है।

इस अंक में—संस्कृति, शब्दार्थ का इतिहास, कुल्लू के लोकगीत—आर्थिक संदर्भ, राजा रसालू का झेड़ा, अमर वीर चरनू, बसोआ: एक विवेचन तथा भरमौर क्षेत्र के देवी-देवता लेख पाठकों को संस्कृति तथा लोक-साहित्य के क्षेत्र में विस्तृत जानकारी प्रदान करेंगे—ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है। भविष्य में इसी प्रकार की ज्ञानपूर्ण जानकारी हम अपने पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते रहेंगे। पर सोमसी के सुधि पाठकों तथा विद्वानों से हमारा निवेदन है कि अपने क्षेत्र में प्रचलित लोक विश्वासों, अवधारणाओं तथा मान्यताओं व लोक-साहित्य, संस्कृति, कलाओं तथा भाषा से सम्बन्धित शोधपूर्ण लेख सोमसी में प्रकाशनार्थ भेजते रहा करें ताकि अन्य क्षेत्रों के पाठक इनसे लाभ उठा सकें। भविष्य में हम इस पत्रिका को नया रूप देने में प्रयासरत हैं। आशा है सोमसी के पाठकों की ओर से हमें भरपूर सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

—(डॉ०) बंशीराम शर्मा

संस्कृति : शब्दार्थ का इतिहास

डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा

संस्कृति शब्द आजकल अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। सम्प्रति संस्कृति शब्द के अर्थ उतने ही प्रचलित हैं जितने संस्कृत भाषा में हरि एवं गो शब्द के। संस्कृत का उल्लिखित शब्द द्वय निश्चित अर्थों का वाचक है। प्रज्युमान संस्कृति शब्द तो तत् तद्देशीय समस्त क्रियाकलापों का निर्देशक माना जाता है। चाहे नृत्य, गीत, वाद्य हों अथवा याज्ञिक वेदोच्चार, सभी क्रियाएं संस्कृति द्वारा अभिव्यंजनीय होती हैं। यजुर्वेद में एक मन्त्र है—सप्रथमा संस्कृति विश्ववारा अर्थात् यह भारत की संस्कृति सबसे प्रथम है और विश्ववारा अर्थात् संसार द्वारा वरण करने योग्य है। विश्व में भारतीय संस्कृति का अपना गौरवपूर्ण स्थान है।

संस्कृति शब्द की व्याख्या धार्मिक, साहित्यिक एवं इतिहास वेत्ता विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। अंग्रेजी साहित्य में 'संस्कृति' शब्द का पर्यायवाची 'कल्चर' शब्द माना जाता है। यह 'कल्चर' शब्द लैटिन के कुलतुरा शब्द से निकला है और कल्चर शब्द में वही धातु है जो एग्रीकल्चर में है अतः इसका भी अर्थ पैदा करना या सुधारना है किन्तु इसका लाक्षणिक अर्थ यह भी है कि मस्तिष्क तथा उसकी शक्तियों को विकसित करना अथवा शिक्षा द्वारा मानसिक वृत्तियों को सुधारना। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'कल्चर' शब्द का अनुवाद होने के कारण इस अर्थ में प्रचलित संस्कृति शब्द अनुपयुक्त है। कल्चर के मूलभूत शब्द Cultra का अर्थ कृषि है। अतः 'कल्चर' के अर्थ में 'कृष्टि' शब्द ही प्रयोजनीय है 'संस्कृति' नहीं। आजकल संस्कृति शब्द जिन अर्थों में प्रयुक्त होता है उनमें से कुछ प्रस्तुत हैं—शोधन, उन्नति, जोताई, उत्पत्ति, सभ्यता, विकास, आभूषण, नैतिक अनुशासन, मानवीय व्यक्तित्व की विशेषताओं का समूह, मांजी—सवारी जीवन वृत्ति, भूषणभूत कृति प्रभृत्ति।

संस्कृतज्ञ धार्मिक विद्वानों का विचार है कि 'संस्कृति' शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'सुट' का आगम करके क्तिन प्रत्यय लगाकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—संशोधन करना, सुधारना, उत्तम बनाना, सुन्दर या पूर्ण बनाना अथवा परिष्कार करना। समन्वयात्मक भारतीय दृष्टिकोण से संस्कृति शब्दार्थ प्रस्तूयमान है—'संपरिभ्यां करोतौभूषणे' (पा० अ० 6/2/137) सूत्र द्वारा √ कृ (डुकृञ) धातु से भूषण अर्थ

में 'सुट्' प्रत्यय होता है, जिसका अर्थ है—भूषणभूत सम्यक् कृतिया चेष्टा। अतः जिन चेष्टाओं द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति प्राप्त करता है वह ही संस्कृति कही जा सकती है। श्री करपात्री जी ने भी संस्कृति की ऐसी व्याख्या करते हुए लिखा है कि लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय मन, बुद्धि, अहंकारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएं एवं हलचलें ही संस्कृति है। संस्कृत वाङ्मय में उपरोक्त अर्थों के अतिरिक्त भी अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं। फलतः हम इस शब्द के अर्थ-विकास का परीक्षण सुविशाल साहित्य-प्रांगण में करेंगे।

श्री राजगोपालचारी का मत है कि किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचारवाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम संस्कृति है। डा० सम्पूर्णानन्द का विचार है कि संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिसमें कोई समुदाय-विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि-निक्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातों पर निर्भर करता है। थोड़े में कह सकते हैं कि समुदाय की वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता है। इस तरह संस्कृति का संस्कारों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। संस्कार शब्द का अर्थ है—संस्कारो गन्धमाल्या धैर्यैः स्यात्तदधिवासनम्' (अ० को० 2/6/134) अर्थात् कांगल्य धूप इत्यादि द्वारा वस्त्रों अथवा ताम्बूल आदि को सुवासित करने का नाम संस्कार है। यहां 'संस्कार' शब्द से एक का दूसरे को प्रभावित करना अथवा रंग चढ़ाना (छाप डालना) अभिप्रेत है। मेदिनी कोशकार द्वारा संगृहीत संस्कार के तीन अर्थ माननीय हैं—संस्कारः प्रतियत्नेऽनुभवे मानस कर्मणि (शब्द वर्ग 233) (1) प्रतियत्न, (2) अनुभव और (3) मानस कर्म। वेद से लेकर कालिदास साहित्य तक के साहित्य में प्रयुक्त संस्कृति (संस्कार) शब्द उक्त तीनों अर्थों में क्रमशः परिलक्षित होता है। शतपथ ब्राह्मण में इष्ट का चयन निरूपण के अवसर पर प्रतियत्न अर्थ में प्रयुक्त संस्कृति शब्द अशातः संस्कृतिरेव सा/ या अमूरकादशेष्टका उपदधाति (क० 8, अ०3, ब्रा 2, खं० 22) शतपथ ब्राह्मण में सोमक्रय रूप यत्न के अर्थ में संस्कृति शब्द दृष्टव्य है—स० जुहोति। सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा (का० 4, अ० 2, ब्रा०1, खं० 27, तांड्य ब्राह्मण में गुणधान अर्थ में संस्कृति शब्द प्रयुक्त हुआ है। तांड्य महाब्राह्मण के अनुसार सामदेव का नाम संस्कृति है क्योंकि साम से संस्कार किया करता था। संस्कार का साधन होने के कारण साम का नाम संस्कृति, संस्कृतित्व हुआ। अतः वह संस्कृति से युक्त है। संस्कृति का विकसित रूप संस्कृति वेदितव्य है।

ऐतरेय आरण्यक में संस्कृति शब्द अतिशय हेतु अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अमरसिंहकृत नामलिंगानुशासन में क्रिया-कृति के नौ अर्थ दर्शनीय हैं—आरम्भ, प्रत्युपकार, शिक्षा, पूजन, निश्चय, उद्योग, कर्म, इच्छा-पूर्वक यत्न और सुधार। वाजसनेयी संहिता में सत्कार (संस्कार) अर्थ में संस्कृति शब्द अवलोकनीय है—'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा'। सोमक्रय के अवसर पर किए गए उसके सत्कार (पूजन) को संस्कृति कहते हैं। वह सत्कार-रूप संस्कृति विश्ववारा इसलिए है क्योंकि इस अवसर पर ऋत्विक अनृत्विक सब लोगों द्वारा

सोम का वरण किया जाता है अथवा उस सोम (सत्कार) में जगत की उत्पत्ति का बीज संनिहित है। अत: वह विश्व को व्याप्त करता है। अमरकोश में क्रिया-कृतिमात्र का पूजन (सत्कार) अर्थ ध्यातव्य है। श्रीमद्-भागवत में पवित्रीकरण रूप संस्कार (अर्थ में संस्कृति शब्द) प्रयुक्त हुआ। संस्कृति—संस्कार अर्थ में √वज तथा √व्रज धातु—√वज √व्रज संस्कृतौ—वोपदेव (चुरादि परस्मैपद) उक्त ग्रंथों में संस्कृति शब्द प्रति-यत्न अनुभव और मानस कर्म अर्थों में प्रत्यक्षत: प्रयुक्त हुआ है। अन्य प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध ग्रन्थों में यह शब्द प्राय: उपलब्ध नहीं होता। अत: अर्थ-शृंखला की अविच्छन्नता के हेतु हम तत्समनार्थक संस्कार शब्द की विवेचना करेंगे।

विद्वानों ने संस्कृति का अर्थ प्रभाव (छाप) एवं संक्रमण भी किया है। विश्व-संस्कार विधियां इन अर्थों में सुप्रसिद्ध हैं। भारतीय संस्कार-विवाह संस्कार, गर्भाधान संस्कार, पुंसवन संस्कार, सीमन्तोन्नयन संस्कार आदि। इन संस्स्कारों की इति कर्त्तव्यता केवल अपनी छाप छोड़ने में है। जटाधर ने संस्कार, को शुद्धि कहा है। शुद्धि की व्याख्या है—अदृष्ट विशेष-जनक कर्म। इसका शाब्दिक अर्थ है—छाप डालकर एक नया (विलक्षण) रूप प्रदान करने वाला कार्य। मनु ने भी विभिन्न अर्थों में संस्कार (संस्कृति) शब्द प्रयुक्त किया है जैसे—कार्य: शरीर-संस्कार: संस्कारार्थ शरीरस्य, संस्कारो वैदिक: स्मृत:, संस्कर्ता चोपहर्ता च या गर्भिणी संस्क्रियते। महाभारत में भाव, भावित (भावना) रूप में संस्कार का उल्लेख हुआ है। बौद्धमत के अनुसार संस्कार के दो भेद हैं—संस्कार बन्ध और संस्कार स्कन्ध। राग-द्वेष मोह मद मात्सर्य, भय शोक और विशाद आदि चित्तज धर्मों को 'संस्कार स्कन्ध' कहते हैं। भगवान पतंजलि के अनुसार संस्कारार्थक एक शब्द 'अनुभूति विषय-समस्त (तत् तत्) वृत्तियों के अनुभव होने पर (तत् तत्) संस्कार होता है। न्याय-मत में संस्कार (संस्कृति) को गुण-विशेष माना है। वह तीन प्रकार का होता है—वेग संस्कार, स्थिति-स्थापक संस्कार और भावना संस्कार।

वाचवस्पिति के अनुसार संस्कार के सात अर्थ होते हैं—गुणान्तराधान रूप प्रतियत्न (संक्रमण), व्रीहि आदि को यज्ञांग बनाने की निमित्त वैदिक मार्ग से सिंचन का नाम संस्कार, शास्त्राभ्यासजन्य व्युत्पत्ति, व्याकरण शैली से शब्द-साधन-प्रकार, गर्भाधान षोड्श संस्कार, क्रिया-कलाप तथा पाक। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में संस्कार के तीन अर्थ किए हैं—प्रतियत्न, अनुभव और मानस-कर्म। प्रणयन संस्कार का उल्लेख शिशुपालवध (14/22) में उपलब्ध होता है। हेमचन्द्र ने संस्कार के तीन अर्थ बतलाए हैं—वासना, भावना और अनुभूत का अविस्मरण। नानार्थ संग्रहकार ने संस्कार के दो अर्थ किए हैं—संकल्प (निश्चय) और यत्न। शाश्वतकोश संकल्प तथा प्रतियत्न दो अर्थों का अनुमोदक है। महाभारत आदि ग्रन्थों में क्रिया का अर्थ संस्कार (संस्कृति) होता है। यहां संस्कृति क्रियामात्र को विज्ञापित करती है।

अस्तु, संस्कृति शब्दार्थ के क्रमिक परिवर्तन का इतिहास चक्करदार नहीं है । यह शब्द मूलतः प्रतियत्न (संक्रमण, रचना) सामग्री आदि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—शतपथ ब्राह्मण, महाभारत आदि । शनै-शनैः इसका अर्थ स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर विकसित हुआ है । 'संस्कृति' शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है, जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना । संस्कृत शब्द का भी यही अर्थ है और संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी, किन्तु जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। भाववाचक होने के कारण संस्कृति एक समूह-वाचक शब्द है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि एवं आलोचक रामधारीसिंह दिनकर ने भारतीय संस्कृति का क्रम-वद्ध इतिहास प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि संस्कृति जिन्दगी का तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज से मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि संस्कृति का सम्बन्ध मानव के भौतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक, दार्शनिक, कलात्मक सभी प्रकार के महत्वपूर्ण विकासों एवं जीवन के विविध पहलुओं से है । मानव के इन विकासों में परम्परागत संस्कारों का बड़ा हाथ रहता है । इसलिए संस्कृति का संस्कारों से घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

यशपाल साहित्य परिषद्,
अपर बाजार नादौन,
जिला हमीरपुर (हि० प्र०) 177033

कुल्लू के लोक-गीत—आर्थिक सन्दर्भ

देविका ठाकुर

प्राचीन काल से ही कुल्लू एक कृषि प्रधान क्षेत्र है। यहां के लोग अपने जीवन निर्वाह के लिए कृषि पर निर्भर रहते हैं।[1] इनमें अधिकतर कृषक छोटे किसान हैं। गेहूं, धान और मक्की यहां की मुख्य फसलें हैं। इनके अतिरिक्त जौ, कोदरा, सरियारा, बाथू, चीणी और काऊणी जैसी सामान्य फसलें भी उगाई जाती हैं। मुख्य फसलों के साथ-साथ दालों की भी खेती की जाती है।

वन सम्पदा में देवदार, चील, कैल, रई, तोस, बान, मोहरू, खनोर, शरशु और अखरोट तथा कई स्थानीय प्रकार के वृक्षों के सुन्दर, सघन और सम्पन्न वन हैं,[2] जो प्राकृतिक सौरम्य के साथ-साथ जलाने की लड़की और इमारती लड़की प्रदान करते हैं। यह वृक्ष कुन्ज वन्य जीव-जन्तुओं को जीवन का आश्रय प्रदान करते हैं। इनके इलावा घरों में गाय-बैल और अन्य पालतू जानवर भी पाले जाते हैं। कृषि के साथ पशु-पालन को यहां बहुत अधिक महत्व प्राप्त है। परन्तु अच्छी नस्ल के पालतू पशुओं की कमी है।

लगभग सारे कुल्लू क्षेत्र में रबी और खरीफ की दोनों फसलें उगाई जाती हैं। लड़की के हल और छोटे बैल खेत जोतने के काम में लाए जाते हैं। खेत और जोतें दोनों छोटे-छोटे हैं। फिर भी उत्पादन सामान्य होता है। जलवायु रमणीय और सुहावनी है। केवल मैदानी क्षेत्रों में गर्मी कुछ अधिक होती है। सर्दियों में पर्वतीय क्षेत्रों में बर्फ की श्वेत चादर बिछ जाती है। बरसात भी इतनी अधिक नहीं होती और मौसम अच्छा होता है। प्रकृति के ऊपर निर्भर कृषि कार्य वर्ष-भर होते रहते हैं।

समुद्र तल से कुल्लू के कस्बे की ऊंचाई 4,092 फुट है। प्रसिद्ध पर्यटक स्थान मनाली, की ऊंचाई 6,465 फुट के लगभग है। जबकि 3,689 फुट समुद्र सतह से ऊपर बसा बजौरा क्षेत्र, निम्नतम ऊंचाई वाला क्षेत्र है।[3] बाहरी सिराज, बन्जार घाटी, रूपी घाटी, बाल्ह घाटी, लग घाटी और ब्यास घाटी व ऊजी

---

1. के० एल० नेगी, सेनसस ऑफ इन्डिया, 1981, प्राईमरी सेनसस एबस्ट्रेक्ट हिमाचल प्रदेश: पेपर-1, सीरीज-7, (हि० प्र०, शिमला) 1982, पृ० 5-6।
2. ए० एफ० पी० हारकोर्ट, दि हिमालयन डिस्ट्रिक्ट ऑफ कुल्लू, लाहुल एण्ड स्पिति, पृ० 51।
3. लालचन्द्र प्रार्थी, कुलूत देश की कहानी, पृ० 2-10।

घाटी में विभक्त कुल्लू, 10,000 फुट से 210,000 फुट तक के ऊंचे पर्वत शिखरों से घिरा हुआ है। प्रकृति की छटा सब ओर बिखरी लगती है। पर्यटक, देश-विदेश से यहां शताब्दियों से प्रकृति की गोद में विश्राम करने आते रहे हैं। यही कारण है कि अधिकतर ऋषि-मुनि यहीं आकर तपस्या करते थे।[1]

खनिज सम्पदा में, तांबा और चांदी पाया गया है, पत्थर (स्लेट) की खानों का उपयोग, तथा उद्योग के नाम पर कोई विशेष प्रगति नहीं है।[2] हस्तकर्घा में शाल, पट्टू, पट्टी, मफलर, कम्बल और लोई आदि को बुनने का काम प्राचीन काल से बहुत बड़े पैमाने पर होता है। कुल्लू की शालें सारे भारत में प्रसिद्ध हैं। यह उद्योग हजारों लोगों को रोजगार प्रदान करता है। फलों और सब्जियों का उत्पादन तथा व्यापार भी कुल्लू के किसानों की नकदी आय के मुख्य साधन हैं। सेब और आलू के उत्पादन और व्यापार में कुल्लू का विशेष स्थान है। प्राचीन काल से ही कुल्लू क्षेत्र में अधिकतर छोटे किसान हैं, खेत छोटे-छोटे टुकड़ों में तथा गांवों से दूर-दूर पाए जाते हैं। यहां के खेत मैदानी ढलानदार, ऊबड़-खाबड़ तथा कुछ जंगलों से घिरे हुए पाए जाते हैं। यहां के लोग अपने-अपने कार्य में व्यस्त रहते हैं। यहां का आर्थिक जीवन इतना सुलभ नहीं है जितना की बाहर से लगता है। यहां के आर्थिक जीवन की अवस्था को यहां के स्थानीय लोक-गीतों में संजोया गया है। इन लोक-गीतों में यहां के आर्थिक जीवन का इतिहास रचा लगता है। इनमें आर्थिक समस्याओं की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। लिखित विवरण की कमी के कारण हमने यहां के लोकगीतों के माध्यम से इस क्षेत्र के आर्थिक जीवन पर प्रकाश डाला है। प्रस्तुत अध्याय में कृषि, पशुपालन, जंगल, सेब, जलवायु और अन्य आर्थिक विषयों से सम्बन्धित लोक-गीतों का अध्ययन करेंगे।

(क) कृषि-सम्बन्धी लोक-गीत

कुल्लू में अधिकतर काश्तकार किसान हैं। कृषि मजदूर कुल जनसंख्या का केवल 0.90 प्रतिशत भाग है।[3] कृषि में विनिमय और सहयोग व्यवसाय की मुख्य विशेषतायें हैं। आवश्यकता पढ़ने पर गांव के लोग जरूरतमंद ग्रामीणों के कृषि कार्यों में हाथ बंटाते हैं। परिश्रम कृषि का पर्याय शब्द है। स्वस्थ और सशक्त होना कृषि-कार्यों में आवश्यक गुण हैं। बूढ़ों और बच्चों का केवल एक सहायक का कर्तव्य होता है। प्रस्तुत गीत में एक बूढ़े दम्पत्ति की कृषि कार्य में असमर्थता का शब्द चित्रण है।

1. पद्म चन्द्र कश्यप, कुल्लूई लोक-साहित्य, पृ० 1-3
2. वही
3. के० एल० नेगी, सेनसस ऑफ इंडिया, 1981 : प्रोविजनल पापुलेशन टोटलज, हिमाचल प्रदेश, पेपर-1, सीरीज-7, (डारेक्टोरेट ऑफ सेनसस ओपरेशनज, हिमाचल प्रदेश, 1981) पृ० 6।

दोन्दे-री हुई मोखली,[1]
दाढ़ी हुई पोलुए ओ शेती ।[2]
ओ मेरी दासी लाड़िये,
किन्हा[3] ऐबे केरणी खेती ।
कुण जाला ढौग-ढूंखर,
कुण उठला राती-दोती ।[4]
ओ मेरी दासी लाड़िये,
किन्हा ऐबे केरणी खेती ।
ओ दासी लाड़िये……।

उपरोक्त गीत में एक असहाय दम्पत्ति की करुण अवस्था का चित्रण है । बूढ़ा किसान अपनी बूढ़ी पत्नी से कहता है कि तेरे मुंह के दांत नहीं रहे अर्थात तू बूढ़ी हो गई है। मेरे दाढ़ी के बाल सफेद हो गए हैं अर्थात् मैं भी बूढ़ा हो गया हूं। अब ओ मेरी संगिनी ! हम खेतीबाड़ी कैसे करेंगे। जीवन निर्वाह कैसे होगा। आगे कहता है कि अब लड़की, घास व कामों के लिए पहाड़ों-पर्वतों पर कौन चढ़ेगा ? कौन रात को काम करेगा और कौन सुबह उठेगा। अर्थात बूढ़ा दम्पत्ति अपने बढ़ते-बुढ़ापे के कारण परिश्रम करने योग्य नहीं रहा है, और अपनी व्याकुलता को इस लोक-गीत में व्यक्त किया है । ऐसे कई अन्य दम्पत्ति जीवन के अन्तिम दिनों में कृषि कार्य नहीं कर पाते जबकि इस व्यवसाय में मेहनत के बिना निर्वाह नहीं होता है । प्रस्तुत गीत कृषि क्षेत्र में स्त्री और पुरुष दोनों के योगदान को प्रदर्शित करता है। कृषि क्षेत्र में स्त्रियों का योगदान भिन्न-भिन्न रूप में सहायक रहा है। इस प्रकार यह लोकगीत कृषि व्यवसाय की एक विशेष समस्या पर प्रकाश डालता है ।

[2]

एक अन्य समस्या का ज्ञान प्रस्तुत लोक-गीत से प्राप्त होता है। कुल्लू की सभी घाटियां एक सी उपजाऊ भूमि वाली नहीं हैं। कहीं अत्यधिक बर्फ पड़ती है तो कही ग्रीष्म में गर्म हवा चलती है और सूखा पड़ता है । इसी प्रसंग में यह गीत गाया जाता है ।

---

1. मुंह में दांत न होना, 2. बुढ़ापे में दाढ़ी सफेद होना ।
3. किस तरह, 4. प्रातः ।

बाल्ह फूकूआ रूड़िये, बोला रूड़िये, ।
चोला ऊझी वै जाणा, बाल्ह फूकू रूड़िये ।[1]
ऊझी शाऊ रालाणा, बोला ऊझी शाऊरा,[2]
जाणा धाने-री सेरी, ऊझी शाउरा लाणा ।
भोत[3] खाणा जाटू-रा, बोला जाटू-रा,
याद न् लोड़ी विसरी तेरी, भौत जाटूरा खाणा ।
मेरे वाल्ह-न् पीपड़ी[4]-बोला पीपड़ी,
तेरी ऊझी-न् धधेरी, मेरे वाल्ह-न् पीपड़ी ।
बाल्ह फूका खूड़िये.................।

उपरोक्त लोकगीत में कुल्लू की दो घाटियों की जलवायु और जनजीवन का विवरण प्राप्त है। कुल्लू की बाल्ह घाटी जो कि बजौरा से कुल्लू शहर तक फैली है, इस क्षेत्र के मैदानी इलाकों में आती है। यहां भूमि समतल है लेकिन यहां गर्मी अधिक पड़ती है और प्रायः फसलें सूखा पड़ने पर नष्ट होती हैं। सूखे की स्थिति का सामना इस घाटी को प्रायः करना पड़ता है। इसके मुकाबलें ऊझी वैली या ब्यास वैली या अपर वैली अधिक उपजाऊ, अधिक विस्तृत, अधिक सुहावना मौसम वाली घाटी है। यह घाटी ब्यास नदी के दोनों ओर कुल्लू शहर से मनाली तक फैली हुई है। यही समस्त कुल्लू में सबसे प्रगतिशील और सुविधा सम्पन्न क्षेत्र व घाटी है।

प्रस्तुत गीत में दोनों घाटियों के गायक एक-दूसरे को अपने यहां आने का निमंत्रण देते हैं। बाल्ह में सूखा पड़ गया है, सारी फसलें नष्ट हो गई हैं। जानवरों को घास और पीने को पानी उपलब्ध नहीं है। फल और सब्जियां भी सूख गई हैं। तब लोक-गायक कहते हैं कि चलो—ऊझी घाटी को चलें। वहां धान[5] की खेती होती है और लोग जाटू चावल[6] (लाल-भूरे रंग के चावल) ही खाते हैं। जबकि बाल्ह में मक्की और गेहूं की रोटियां खानी पड़ती हैं। ऊझी में ही ससुराल बनाएंगे और जाटू चावल खाएंगे। बाल्ह में तो केवल मिर्च की फसल ही अधिक होती है। और प्रसिद्ध भी है। इसलिए सूखे से बचने के लिए और सुविधाजन-जीवन-यापन के लिए ऊझी वैली में जाकर बसना चाहिए। यहां इस गीत में सूखे से पीड़ित किसान की मनोवृत्ति का वर्णन है। सिंचाई के साधन न होने का भी इस गीत से ज्ञान प्राप्त होता है। आज भी इस क्षेत्र

1. सूखा 2. ससुराल 3. भात 4. मिर्च 5. चावल।
6. लाल-भूरे रंग की चावल की किस्म, वासमती, बेगमी और कई प्रकार के चावलों की खेती होती है।

के साथ में व्यास नदी होते हुए भी सिंचाई का प्रबन्ध बहुत कम है। जबकि ऊझी वैली में धान के खेत जिनको हम रोपे व कियार[1] बोलते हैं में धान की बिजाई पानी के बिना नहीं होती। अर्थात सिंचाई का पुरातन काल से ही स्थानीय प्रबन्ध है।

[3]

प्रस्तुत लोक-गीत में कुल्लू के जलवायु, भौगोलिक स्थिति, और हर प्रकार की फसलें, फल, सब्जियां और अन्य जीवन की आवश्यकता की वस्तुएं कुल्लू के क्षेत्र में ही प्राप्त होने की स्थिति को प्रकट किया है।

बूरा मौत बुझदी लाड़ी शालणिऐं, चौले घीरा-वै जाणा।
सेभ जिन्सी[2] आपणे देशाना दूरे पारे नहीं जाणा।
पौधरी[3] वाल्ह-न् सौमसी-खोखण, जोता[4] पांदे मलाणा।
उतर खुंठा नां जोत रटांग, म्हारे देशा रा ताज।
मोंजे[5] मोंजे पोऊ जोत जलोड़ी-औरे-पोरे सराज।
कुंठा रा घौर लाहुल, वाने पांदे पोई पिती।[6]
शोभला सेऊ ऊझी-मनाली-खराला नास पती।
सरगा[7] छूंगदे जौते-रै ठंलरू ठण्डा जायरू[8] पाणी।
ठण्डी वागर जिऊड़ू[9] घूंगदी विड़ी तुंगे-री लाणी।
छौली शोभली पौधरी रूपी, मनीकरणा चांदी री खान।
ऊझी रोपे[10]-री पौधरी सेरी-नां जाटू माहूरी धान।
पूरे कुल्लून ठारह किसम रै जंगल पोये घौणे।
पवित्र भूमि रै उथेड़ पहाड़ा ना केतरे पदार्थ होणे।

---

1. कुल्लू में रोपे और शिमला में क्यार बोलते हैं यह वह खेत के टुकड़े हैं जिनमें पानी लगाकर धान बोया जाता है। किनारे पर पानी रोकने के लिए मेंढ़ या मुंडेर बनी होती है। धान रोपा जाता है।
2. फसलें। 3. समतल। 4. पहाड़।
5. बीच में। 6. स्पिति क्षेत्र।
7. आकाश 8. चश्में का पानी। 9. मन, दिल
10. धान के खेत। देखो, निमित राम ठाकुर, जागृति (ग्राम गुशाल, बरूआ, मनाली, 1962), पृ० 26

उपरोक्त गीत में इस बात को प्रकट किया है कि कूल्लू में सब प्रकार की आवश्यक फसलें पैदा होती हैं, कहीं दूर के क्षेत्र से नहीं लानी पड़ती हैं। सौमसी-खोखण बाल्ह घाटी में मैदानी क्षेत्र हैं तो पहाड़ पर मलाणा गांव स्थित है। उतर के भाग में रोहतांग का पर्वत कुल्लू का सरताज है तो जलोड़ी पर्वत सिराज के बीचों-बीच है कुंठ (कोष्ठक जड़) लाहुल की मुख्य नकदी फसल है। और, खराल की नाशपाती और ऊझी मनाली के सेब प्रसिद्ध हैं। आकाश को छूती पर्वत-माला, ठंडी-ठंडी हवा और चश्मों का पानी भी उपलब्ध है। तूंग की दातुन, रूपी की मक्की, मनीकरण की चांदी, धान की अमीर ऊझी, कई प्रकार के जंगल, खनिज पदार्थ इस पवित्र भूमि में प्राप्त होते हैं। अर्थात कुल्लू का क्षेत्र प्राकृतिक सौन्दर्य और आवश्यक वस्तुओं में सर्व-सम्पन्न है।

(ख) प्रकृति-पशु-पालन सम्बन्धित लोकगीत

[1]

प्रकृति की छटा के साथ-साथ कुल्लू का क्षेत्र प्रकृति के प्रकोप से भी प्रायः पीड़ित रहता है। ऊंची-ऊंची पहाड़ियां सदैव बर्फ से ढकी रहती हैं। नदी-नालों में प्रायः बाढ़ें आती रहती हैं और ग्लेशियर का खतरा पहाड़ों की तराईयों में रहने वाले प्रायः झेलते रहते हैं। कड़कती शरद ऋतु, बरसात की भारी वर्षा, ग्रीष्म की गर्म हवा, और ऊंचे-नीचे, पथरीले-पहाड़ी मार्ग इस पहाड़ी क्षेत्र के निवासियों के जीवन को और कठिन बना देते हैं। परन्तु इन कठिनाइयों को पहाड़ियों ने गीत बनाकर संगीत दिया है जो कि प्रस्तुत लोकगीत से स्पष्ट है।

हींऊं[1] लागा झीऊंरा वोला झींऊरा,[2]
चौला बाल्ह-वैं जाणी।
हीऊं लागा झिऊरा।
धारा पांदे खोखण, वोला खोखण,
डूगे[3] नाला-न् न रेरी।
धारा पांदे खोखण।
गेंहूं फिरे गौगरे, वोला गौगरे,[4]
जौऐ पीऊंई सेरी।

1. बर्फ 2. तीव्र 3. गहरे 4. अध-कच्चे

गेहूं फिर गौगरे।
सेरी हुंडणा[1] आपणी, बोला आपणी,
छाती जोअली[2] तेरी।
सेरी हुडणा आपणी।
थौर भौरूआ पाहुणे, बोला पाहुणे,
याद विसरी तेरी।
घोर भौरूआ पाहुणे।[3]

उपरोक्त गीत में भारी हिमपात में पहाड़ पर रहने वाले लोगों की अपने ही क्षेत्र के मैदानी इलाकों पे रहने की इच्छा को व्यक्त किया गया है। भारी हिमपात हो रहा है, देखो, बर्फ पड़ रही है। आओ वाल्ह यनि मैदानी क्षेत्र की ओर चलें। यह क्षेत्र समसी-खोखण है। और गहरे नाले के पास रेरी क्षेत्र है। वहां पर आज-कल गेहूं अध-पके और जौ की खेती का पीला रंग हो गया है। अर्थात् पकने को तैयार है। हमारे यहां खेत बर्फ से ढके हैं गेहूं और जौ की फसल बर्फ की परतों के नीचे दबी पड़ी है। अपने खेतों में चलते हुए बहुत दुःख होता है। जबकि वाल्ह क्षेत्र में खेत लहला रहे हैं। वाल्ह के लोगों के आजकल बहुत मेहमान आये होंगे। ऐसे में वे हमें भूल गए होंगे या याद नहीं करेंगे। इस प्रकार इस लोक-गीत में हिमखंडों में रहने वाले लोगों की व्याकुलता और कठिनाइयों पर गीत में प्रकाश डाला है।[4]

[2]

जहां एक ओर बर्फ पड़ने से पहाड़ों में जीना दुर्लभ हो जाता है, वहां दूसरी ओर यही बर्फ चांदी-सी सफेद चादर बिछाकर प्राकृतिक सौंदर्य को मनमोहक रूप देती है। इसी कारण इस क्षेत्र की ग्रीष्म ऋतु अतीव रमणीय और सुहावनी होती है। ऐसे समय में पर्वतवासी अपने सुन्दर क्षेत्र का गुणगान करते हैं और मैदानी क्षेत्र के लोगों को और पर्यटकों को प्रस्तुत गीत के माध्यम से मनाली में आने का निमन्त्रण देते हैं। जो कि विश्व में सबसे सुन्दर पर्वतीय क्षेत्र माना जाता है।

---

1. चलना 2. जलना 3. अतिथि।
4. देखो, पेनेलोप चेटवॉड, कुल्लू : दि इण्ड ऑफ दि हेबीटेबल शोरल्ड, (अलाईड पबलिशर्ज प्रा० लि०, नई दिल्ली, 1980) पृ० 163-80

ऐजँ[1] म्हारी मनाली-वँ ओ, हऊआ[2] ठेण्डड़ी लाणी हो।
फेर फिरदा वौषट-ओ, मौझे गर्म पाणी हो।
पौरे पौऊ बुरूआ ओ, ओरे नेहरू पाणी हो।
जेठा-शाड़े-रैं[3] धूपा-न् ओ ठण्डी वागरा[4] लाणी हो।
खेड़ा रटांगा-रा जोतड़ू ओ, ठण्डा जायरू पाणी हो।
ऐजँ म्हारी मनाली-वँ ओ·························।

उपरोक्त गीत में मनाली के ग्रीष्म ऋतु के सुहावने मौसम का गुणगान है। लोक गायक कहता है कि हमारी मनाली में आयें। यह पर्यटक स्थलों में, हिमाचल प्रदेश में, शिमला से भी अधिक रमणीय और आकर्षक पर्यटन स्थान है। यहां गर्मी में ठंडी हवा चलती है। चारों ओर वरिष्ठ का दृश्य और बीच में गर्म पानी के चश्में हैं। एक तरफ बुरूआ गांव का सुन्दर, मनमोहक और आकर्षक दृश्य है, तो दूसरी ओर गर्म पानी के झरने हैं। इनमें से एक कुन्ड को नेहरू कुंड कहते हैं। भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री, स्वर्गीय श्री जवाहर लाल नेहरू के नाम पर इस कुंड का नाम पड़ा है। नेहरू जी यहां अक्सर विश्राम करने आया करते थे।[5] साथ में रोहतांग दर्रे का रमणीय नजारा और ठंडे पानी के चश्में, झरने और अन्य स्रोत स्वादिष्ट व स्वास्थ्यवर्धक जल प्रदान करते हैं। आईये! मई-जून की गर्म-धूप-ताप से बचकर इस पहाड़ी पर्यटन स्थल पर विश्राम करें। यह गीत एक प्रकार से पर्यटन को प्रगति और बढ़ावा देने की ओर संकेत करता है। इतने सुन्दर स्थल को आवश्यक पर्यटन प्रबन्ध व सुविधा की आवश्यकता है।

[3]

कृषि और पशुपालन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। और पहाड़ी क्षेत्रों में चरागाहों और चारे की अधिक उपलब्धि के कारण इसका महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। भेड़ें, बकरियां, गाय-बैल, घोड़े, खच्चर, गधे

---

1. आओ, आईये, 2. हवा।
3. मई-जून 4. पवन, हवा।
5. देखो, लालचन्द प्रार्थी, कुलूत देश की कहानी, पृ० 2-10

और कुत्ते यहां प्रायः पाले जाते हैं।[1] इसे जन-साधारण अपनी आय में योगदान और कृषि सम्बन्धित कार्यों में सहायता के लिए पालते हैं पालतू जानवरों से सम्बन्धित समस्याएं व साधारण बातें यहां लोक-गीतों में अपना स्थान पा चुकी हैं। विशेषकर, भेड़-बकरी पालने में यहां अधिक समस्यायें हैं। कुछ लोग इसे मुख्य व्यवसाय के रूप में भी अपनाते हैं। इससे सम्बन्धित विचार और भावनाएं यहां प्रस्तुत लोक-गीत से स्पष्ट होती हैं।

भेड़ा चारी बोला बौकरी-ओ, मांहु ढौगा[2]-रै बौणा हो।
झासी[3] नेणे मंगोऊ-ओ, संगे मेंहूं-री धाणा[4] हो।
भेड़ा चारी बोला……………………………।
एक नेणा शोटकू, संगे खूंटाऊ लाणा हो।
भेड़ा चारी बोला…………………………।
बिए-पयाशी[5] नेई बुझिदा बूरा, ध्याड़ा गाशा-रा[6] फारा हो।
भेड़ा चारी बोला……………………………।
हौथड़ू जौगड़ू थैके हींडिया,[7] संगे लागदी ऊरा[8] हो।
भेड़ा चारी बोला…………………………।

उपरोक्त लोक-गीत में भेड़-बकरी पालने और चराने के व्यवसाय में कैसे कष्ट और कैसी-कैसी समस्यायें पेश आती हैं, का इस गीत में सुन्दर वर्णन है। इस गीत को गड़रियों व पुहालों[9] के इलावा साधारण जनता प्रायः मेले-उत्सवों में गाती है और इसमें समूह-गान के साथ समूह-नृत्य भी होते हैं। गीत में कहा कि भेड़-बकरियां मांहू नाम के पर्वत की चरागाहों में चराते हैं। पुहाल गेहूं और भांग के बीज भूनकर ले जाते हैं। और जब भूख लगे तो इनको खाते हैं। एक लाठी, और पैर में खड़ाऊं अर्थात् स्थानीय जूते पहनते हैं। जब आकाश साफ होता है और पानी नहीं बरसता—तब तो भेड़ चराने में न कष्ट होता है और न ही मन दुःखी होता है। लेकिन वर्षा और बर्फ के दिन बहुत लम्बे लगते हैं अर्थात् दिन काटना कठिन होता है। वैसे प्रायः जंगलों, पहाड़ियों पर चढ़ते-उतरते हाथ-पैर थक जाते हैं। और (मश्ल) मांस पेशियों में दर्द होता है। अर्थात

1. ए० एफ० पी० हारकोर्ट, आप० सिट०, पृ० 57
2. पर्वत 3. भूनना। 4. भुने हुए गेहूं के दाने। 5. खुश्क मौसम
6. वर्षा के दिन 7. मांस पेशी दर्द।
8. भेड़-बकरी चराने वाले, गडरिए 9. गड़रिये।

दु:ख जाती हैं। इस प्रकार भेड़ बकरियों के व्यवसाय की समस्याओं का सुन्दर वर्णन इस गीत में मिलता है। प्रकृति से ही साधारण, ईमानदार, स्वावलम्बी और कठोर परिश्रमी कुल्लू के कृषक भेड़-बकरियां चराकर भी निर्वाह करते हैं।

[4]

एक अन्य गीत में एक बालिका ढोर-ढुंगर व गाय-बैल आदि को चराने के लिए ले जाने से इन्कार करती है। इस गीत में आधुनिक सामाजिक परिवर्तन के कारण कुल्लू के कृषि समाज में भी बदलाव की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। प्रस्तुत गीत में पशुपालन से हट कर एक नई दिशा की ओर बढ़ने का संकेत है।

ओ आम्मा मेरीये नेंई चारिदै-,
शूर्का[1] धारा-न् गोरू[2]—हो-ओ। ओ आम्मा............
आम्मा मेरीये नेंई चारिदै-,
डूघे[3] नाला-न् गोरू—हो, ओ। ओ आम्मा............
ओ अम्मा मेरीये नेई चारिदै-,
तेरे नौड़ा-वैं गोरू—हो- ओ। ओ आम्मा............
ओ आम्मा मेरिये नेंई चारिदै-,
मूंबी पौढ़दे जाणा हो-ओ। ओ आम्मा............
ओ आम्मा मेरीये नेंई चारिदै[4]......................

उपरोक्त गीत में इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव किसी समाज के साहित्य और संगीत पर भी पड़ता है। कृषि प्रधान क्षेत्र में बच्चों से फसलों का पहरा व पशुओं को चुगाने के काम के लिए जाते हैं। जन-साधारण ने सर्वप्रथम शिक्षा को केवल लड़कों तक ही सीमित रखा। लड़कियों को पढ़ाना अनिवार्य नहीं समझा। इससे स्त्री वर्ग के साथ अन्याय हुआ इस समस्या और इससे पनपे रोष को प्रस्तुत गीत में देखा जा सकता है। साथ में लड़कियों में सभ्य और सुशिक्षित समाज की ओर बढ़ने की प्रबल इच्छा का समावेश भी इसमें मिलता है। बालिका अपने अम्मा अर्थात माता से अनुरोध करती है कि

---

1. शुष्क, सूखी, 2. गाय-बैल, पशु। 3. गहरे, नीचे 4. चराना।

मैं अब गोरू अर्थात गाय-बैल और बछड़े-बछड़ियों के झुंड को चुगाने नहीं ले जा सकती। मैं शुष्क, नंगी पहाड़ियों पर डंगर नहीं चरा सकती। मेरे से गहरे नालों में और जंगलों में पशु नहीं चराये जाते। मैं गोरू नहीं चरा सकती। अपनी मां से बार-बार यही अनुरोध करती है। क्यों नहीं चरा सकती? इसका केवल एक वाक्य में जवाब देती है—कि मैं भी पढ़ने जाऊंगी। अर्थात जैसे दूसरे बच्चे स्कूल जाते हैं मुझे भी स्कूल भेज मां। मैं भी पढ़ना चाहती हूं। यही इस गीत का दिशा संकेत है। यह गीत अब प्रायः व्यक्ति, समूह, स्त्री-पुरुष सब गाते हैं। पशु चुगाते समय पहाड़ियों में प्रायः ग्वालें गाते रहते हैं।

इस प्रकार इन लोक-गीतों में प्रकृति और पशु-पालन से सम्बन्धित विचार, भावनायें, कार्य, रीति-रिवाज और समस्याओं की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। इस सम्बन्ध में जन-साधारण की मनोवृत्ति और व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है।

[ग] बागवानी और वन सम्बन्धी लोक-गीत

वन और बागवानी का भी कुल्लू के जन-जीवन में विशेष महत्व है। दोनों ही नकदी आय के आवश्यक स्रोत्र हैं। कुल्लू के भौगोलिक क्षेत्र का 30 प्रतिशत भाग घने जंगलों से घिरा हुआ है।[1] इस कारण वनों का जन-साधारण के दैनिक जीवन से बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। दूसरी बागवानी में विशेष कर सेबों के उत्पादन ने जनता के आर्थिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया है। और अब भी फलों के उत्पादन की ओर अधिक से अधिक किसान रुचि ले रहे हैं। और अधिक से अधिक भूमि सेब उत्पादन के अन्तर्गत आ रही है। इतना अधिक घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण, जन-साधारण ने वन और बागवानी के प्रति अपने उदगार लोक-गीतों के माध्यम से प्रस्तुत किये हैं। यहां हम कुछ चुने हुए लोकगीतों के शब्द और उनकी विवेचना प्रस्तुत करते हैं।

[1]

ओ निम्मा ! ओछा[2] बगीचड़ू रैंड सेऊआ[3]-रा,
रैंड सेऊआ-रा-ओ निम्मा, रेड से-ऊआ-रा।

---

1. पद्म चन्द्र कश्यप, कुल्लूई लोक-साहित्य, (नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1972), पृ० 3
2. छोटा-सा।
3. सेब का।

दोष लोडी तौवे निकलता, म्हारे देऊआ-रा,
म्हारे देऊआ-रा-ओ निम्मा, म्हारे देऊआ-रा ।
नसपती[1]-री कमल लाणी, वगीचड़ू रैंड सेऊआ-रा,
रैंड सेऊआ-रा, ओ निम्मा, रैंड सेऊआ-रा ।
रीका-रैंडा-री[2] कलम लाणी, वगीचड़ू रैंड सेऊआ-रा,
रैंड सेऊआ-रा, ओ निम्मा, रैंड सेऊआ-रा ।
आरू-शाड़े डिगणे[3] देआ, ला वगीचड़ू रैंड सेऊआ-रा,
रैंड सेऊआ-रा, ओ निम्मा, रैंड सेऊआ-रा ।
रैंड सेऊआ-रा................................. ।

जब से सेबों के उत्पादन से बागवानों को अत्यधिक वार्षिक आय होने लगी तो आम जनता में भी सेबों के पौधे लगाने की रुचि बढ़ने लगी। यहां तक इस नये व्यवसाय का प्रभाव बढ़ा कि इसकी महत्ता यहां के लोक-गीतों का विषय बना। उपरोक्त गीत में सेब का छोटा-सा बगीचा लगाने का अनुरोध है। इस बाग में रैंड किस्म के सेब हों। नाशपाती की कलमें लगाना, रीका-रैंड (रीचा-रैंड) प्रकार के सेब की कलमें लगाना, और छोटा-सा सेब का बाग तैयार करना है। आड़ू और खुर्मानी के पेड़ लगाना रहने दो और सेब के बाग लगाने की कोशिश करो। एक छोटा-सा सेब का बाग लगायें। यही इस गीत का संदेश है। इस गीत को भी मेले-उत्सवों में गाया जाता है और नृत्य भी होता है।

[2]

पहाड़ी क्षेत्र के जन-मानस का वनों से सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। कुल्लू में किसान वर्ग का जंगलों से प्रतिदिन का सम्बन्ध है। जंगलों से इमारती लकड़ी, जलाने की लकड़ी, पशुचारा, और जड़ी-बूटियां प्राप्त की जाती हैं। वन्य जीवनों से अनेक प्रकार की सामग्री प्राप्त की जाती है। और पशुपालन भी वनों पर निर्भर है। वृक्षों के प्रकार और मूल्य की दृष्टि से कुल्लू के वन भारत के सर्वोत्तम वनों में से हैं।[4] इस प्रकार वनों का लोक-गीत में स्थान पाना भी स्वाभाविक सा लगता है। इस प्रसंग में गीत प्रस्तुत हैं :

---

1. नाशपाती। 2. रीचा-रैंड, सेब की किस्म।
3. छोड़ देना।
4. पद्म चन्द्र कश्यप, कुल्लूई लोक-साहित्य, पृ० 3

घौर ढौऊ[1] हिलणे,[2] बूटी टांकदे जाणा मैंणिये हो ।
सोना डाईये रीनीये,[3] दोती वौकते[4] जाणा मैंणिये हो ।
घौर ढ़ौऊ हिलणे .... ।
धारा देणी झांऊसी,[5] घौणे जंगला जाणा मैंणिये हो ।
पुराणा देणा डीगणे, घौर नौऊंचा[6] बनाणा मैंणिये हो ।
घौर ढौऊ हिलणे .... ।

उपरोक्त गीत में पेड़ काटने के लिए जंगल जाने का संवाद एक दम्पति के बीच में प्रस्तुत किया गया है । भूकम्प के कारण मकान गिर गया है । पति अपनी पत्नी से कहता है कि अब हमारा घर तो गिर गया है । इसके लिए इमारती लकड़ी चाहिए। फलतः मुझे पेड़ काटने के लिए वन्य अधिकारी के साथ जंगल जाना है । तू रात को ही खाना बनाकर रखना मैंने सुबह-सवेरे जाना है। चढ़ाई चढ़नी है, पहाड़िये को लांघना है, तब घने जंगलों में पहुंच पायेंगे । हम पुराना घर त्याग देंगे और नया घर बनायेंगे । वह पति-पत्नी संवाद लोक-गीत में सुरक्षित है । इससे स्पष्ट होता है कि यहां के क्षेत्र में भूकम्प भी आते हैं । दूसरा लोग मकान बनाने के लिए लकड़ी का प्रयोग करते हैं और सरकारी आज्ञा से वृक्ष काटते रहे हैं। जंगल घने हैं और पहाड़ियों पर हैं। देवदार, कैल, रई और तोस की लकड़ी प्रायः इमारती लकड़ी के रूप में प्रयोग की जाती है और यहां से देश के अन्य भागों के लिए इमारती लकड़ी का निर्यात होता है ।

वन और बागवानी लोक-गीतों के विषय के रूप में वास्तव में अपने इतिहास और साहित्य को संजोये रखने में सफल हुए हैं। कोई लिखित व्यवस्था न होने के कारण सामाजिक जीवन पर जो भी प्रभाव वन और बागवानी का पड़ा—उसे लोगों ने स्थानीय लोक-गीतों के माध्यम से व्यक्त किया है। यही माध्यम अनेक महत्वपूर्ण विषयों से सम्बन्धित ज्वलन्त घटनाओं और उनके वर्णन को वर्तमान युग तक सुरक्षित रखने में सफल हुआ है । अनेक विषयों पर प्रचलित लोक-गीतों का संकलन हिमाचल प्रदेश सरकार द्वारा भी किया जा रहा है ताकि आज के संक्रमण युग में तीव्र गति से परिवर्तित होते समाज में अमूल्य लोक सम्पदा संरक्षित रहे ।[7] यही प्रयास हमने इस शोध-प्रबन्ध में किया है ।

---

1. गिरना ।   2. भूकम्प से ।
3. पकाकर ।   4. समय पर ।   5. चढ़ाई वाली ।   6. नया ।
7. देखो जगदीश चन्द्र दत्त (प्रकाशक), हिमाचली लोक-गीत, भाग-1, भाषा एवं संस्कृति (हिमाचल प्रदेश, शिमला, 1983)

(ङ) बहु-विषय सम्बन्धी लोक-गीत

कुछ ऐसे लोक-गीत भी प्रचलित हैं जिन्हें किसी विषय-विशेष से सम्बन्धित नही किया जा सकता है। उनमें एक समय में एक से अधिक विषयों को एक ही लोक-गीत में सम्मिलित किया गया है। कुल्लू क्षेत्र के लोक-गीतों की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि एक ही लोक-गीत में समय-समय पर अन्य विषय के विचार-भाव जोड़ दिये गए हैं। दूसरा गायक लोग गाते-गाते नये विचारों को उनमें जमा करते रहते हैं। अलिखित होने के कारण लोक-गीत बहुत ही लचीले हैं। यही कारण है कि एक विशेष लोक-गीत में प्रकृति, वन, पशु, बाग और प्रेम के भाव एक साथ पाए जाते हैं। ऐसे कुछ लोक-गीतों के उदाहरण यहां प्रस्तुत किए जाते हैं।

हाईएं ओभिए[1] उभे बोले।
चौले औभिए उभे बोल।
झाऊसी[2] ए घोर, झाऊंसी ए धारे।
हाड़े ओभूआ उभे बोल।
मेरी केरी तुहारे, लैहणी ना औछी[3] रैं शारे।
होछी रैं शारे[4] नेंई समझे, होछी रैं शारे नेंई समझे।
तो भालदया कोंढ़ी ता डूबू ध्याड़ा।[5]
डूबे ध्याड़ा मेरी ओमिए डूबू ध्याड़ा।
हांईएं फेटे लछण ठठ्ठे-रा[6] बुझणा माड़ा।
होछी रा बिरका उभे, हांईएं ओभिए उभे बोल।
पूंजह नौहली खोली दुओर।
झूरी[7] तोपी जंडी गरी छआरं।
हांईएं ओभिए उभे बोल, हांईए ओभिए उभे बोल।
औजकी बिछुड़ी मिली लोड़ी आगने छुओर !
मैंई सोते तुओर, ओभू रैं शारे।
हो मेरे ड़ैं औभुआ, उभे बोल।

---

1. स्त्री सम्बोधन। 2. खड़ी-ऊंची। 3. आंख। 4. संकेत।
5. दिन। 6. मजाक। 7. प्रेमिका।

चौले[1] औभिए पोरले पूछा, पोरले पूंछा ।[2]
हांड़े[3] ओभुआ उभे बोल ।
हांईएं ओभिए उभे बोल ।··········

उपरोक्त गीत धान की रोपाई करते समय गाया जाता है। धान की रोपाई को कुल्लू में रूहणी[4] कहते हैं। खेत में पानी दिया होता है। ऊपरलिखित गीत से यह स्पष्ट हो जाता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में भी कुल्लू प्रदेश में सिचाई के साधन उपलब्ध थे। मिट्टी नर्म की जाती है ताकि धान की पनीरी को सरल व सुलभ तरीके से शीघ्र बोया या रोपाया जा सके। पानी ठंडा होता है। इस गीत से स्पष्ट होता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में कुल्लू में सिचाई की सुविधाएं उपलब्ध थीं। नंगे पांव स्त्री-पुरुष और विशेषकर युवक-युवतियां इस कृषि कार्य में भाग लेते हैं। इस कठिन कार्य को करते हुए उत्साह और प्रेरणा की आवश्यकता होती है। पानी की ठंडक भुलाने के लिए और रोपाई का कार्य शीघ्रता और सुगमता से करने हेतु यह गीत गाया जाता है। इस गीत को ओभड़ू[5] कहते हैं। स्त्रियों और पुरुषों के अलग-अलग दल बनते हैं या मिश्रित दल बन कर दो समूह इसे लगातार गाते हैं। अपनी इच्छा से गीत के बोल में नए टपे व छन्द जोड़ते जाते हैं। इस प्रकार गीत-संगीत के आनन्द और मस्ती में धान रोपाई का काम पूरा किया जाता है। इस गीत को निश्चय ही हम "श्रम गीत" भी कह सकते हैं।

गायकों व श्रमिकों का एक दल एक पंक्ति में गीत के एक बोल गाता है तो दूसरा दल उसका उत्तर देता है। काम से सम्बन्धित, मौसम से सम्बन्धित, प्रकृति से सम्बन्धित, समय से सम्बन्धित, हंसी खुशी से सम्बन्धित, प्रणय और सौन्दर्य से सम्बन्धित और अन्य किसी भी बात और विषय से जुड़े भाव, विचार और भाषा, इस गीत के माध्यम से व्यक्त किए जाते हैं। गाते-गाते काम और समय दोनों निकल जाते हैं। यह गीत सरकारी व सामूहिक खेती व श्रमदान का भी एक सजीव उदाहरण है।

[2]

(घ) वेष-भूषा

प्राचीनकाल में कुल्लू की स्त्रियां और पुरुष दोनों अत्यधिक आभूषण प्रिय थे। पुरुषों को आभूषण

---

1. चल। 2. किनारे। 3. हाय हे।
4. धान रोपाई करने सम्बन्धित कार्य को रूहणी कहते हैं।
5. उपरोक्त गीत का स्थानीय नाम ओभड़ू दिया गया है।

नन्ती और मुरकी होती थी और स्त्रियों के आभूषण जैसे—कर्ण भूषण के अन्तर्गत गन वाले, गोखड़ू, बाली, नन्ती, मुरकी, खुण्डू और कांटे थे, नाक में फूली या तिल्ली पहनी जाती थी। लौंग या ब्लाक भी पहनते थे। विवाह के अवसर पर नाक में बालू हाथों में टोके, बन्द, कांगड़ू और मरीदड़ी पहनती थीं। कंठ में चन्द्रोहार तबीत, रुपये की माला, डेण्डू माला, जौ माला और छाटा प्रचलित थे जिनका वर्णन गाने में इस प्रकार से मिलता है :

कौना[1] वे गोखड़ू[2] नी लोड़ी आमां,
गोपाली धनमेरे दिलै-दिलै मेरी गोपा लिए।
नाका वै फूली[3] नीं लोड़ी आमां,
गोपाली धन मेरे दिल,…… ……………।
हौथा वै कांगड़ू नीं लोड़ी आमां,
गोपाली धन मेरे दिले,…………………।
नाका वै बालू[5] नीं लोड़ी आमां,
गोपाली धन मेरे दिले……………………।
गोआ-वे छाटा[6] नीं लोड़ी आमां,
गोपाली धन मेरे दिलै, दिलै मेरी गोपा लिए।

उपरोक्त गीत में गोपाली नाम की कन्या अपनी मां से कहती है कि उसे ससुराल वालों से कोई आभूषण नहीं चाहिए। प्रचलित प्रथा के अनुसार लड़के वाले वही गहने लड़की को देते हैं जो लड़की व उसके माता-पिता मांगते हैं।[7] स्पष्ट है कि गोपाली का किसी लड़के से रिश्ता हो रहा है। जब यह बात लड़की को ज्ञात होती है तो वह अपनी मां से कहती है कि उसे कान में पहनने के गोखड़ू नामक गहने नहीं चाहिए। नाक में पहनने के लिए फूली नामक गहने नहीं चाहिए। हाथ के लिए कंगन भी नहीं चाहिए। नाक के लिए बालू और गले के लिए हार भी नहीं चाहिए। ये सब आभूषण तुम ससुराल वालों से मत मांगना। मेरा धन तो मेरा दिलवर है। उसे लड़का पसन्द है उसके सिवा गोपाली को कुछ नहीं मांगना है। भाव यह है कि गोपाली को गहनों का लालच नहीं है। इस गीत से प्रचलित गहनों के नाम और विवाह व मंगनी में स्थानीय रीति-

---

1. कान। 2. कान का गहना। 3. नाक में पहने आभूषण का नाम।
4. कंगन। 5. वालियां 6. हार।
7. देखो, चन्द्रशेखर बेबस, "कुल्लू जनपद में विवाह संस्कार" सोमसी वर्ष-2 अंक-1 (अनवड़ी 1976), पृ० 26-29

रिवाज का ज्ञान होता है। इससे आभूषणों के नाम सुनकर जन-साधारण की गहनों में रुचि और आर्थिक स्तर की भी स्पष्ट जानकारी मिलती है। आभूषणों की बहुत महत्ता थी जो कि सोने-चांदी के बनाए होते थे।

प्रस्तुत गीत में प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति है। इसलिए इसे हम प्रेम-गीत की संज्ञा दे सकते हैं। इसमें एक घास काटने जा रही नव-यौवना को सम्बोधित करते हुए एक युवती संगीत मय स्वर में प्रेमालाप करती है। गीत के बोल स्थानीय भाषा शैली में इस प्रकार है—

गाहू[1] वै जाणा झेची मामिए लूड़ बुड़ांदी काथी,[2]
हांईयें गाहू वै जाणा झेची मामिए लूड़ बुड़ादी काथी।
तेरी मेरी जुआनी-न् लोहू[3] नी पूछदा जाति,
हांईयें गाहू वै जाणा झेची मामिए लुड़ बड़ांदी काथी।
छेके केरी तू मिलणा औजके[4] मिलणा कादी,
हांईयें गाहू वै जाणा झेची मामिए लुड़ बड़ांदी काथी।
बेची बौही ऐसा मोरी जुआनी-न् देसा हुदी कवादी,[5]
हांईयें गाहू वै जाणी झेची मामिए, लुड़ बड़ांदी काथी।
गाहू वे जाणा.................................।

उपरोक्त गीत में घास काटने से सम्बन्धित कार्य के साथ प्रेम-भावना का सम्बन्ध जोड़ दिया है। घास काटने का कार्य भी कृषि सम्बन्धित अन्य कार्यों की तरह अधिक परिश्रम मांगता है। लेकिन इस कार्य के साथ गीत जोड़कर इसे संगीतमय कर दिया है। ताकि काम हल्का अनुभव हो और परिश्रम में आनन्द और प्रेरणा की भावना हो। प्रस्तुत लोकगीत में एक नव-यौवना घास काटने जा रही है रास्ते में उसकी सहेली मिलती है जो उसके साथ मजाक करती है और साथ में प्यार को भी दर्शाती है कि तुम अगली बार जल्दी मिलना। न जाने अब कब मिलन हो। और यह भी सचेत करने की कोशिश करती है कि तुम सम्भल के रहना। लोगों का और जमाने का कोई विश्वास नहीं है। तुम सावधान रहना। यह प्रेमालाप इस गीत द्वारा प्रस्तुत किया गया है। काम के साथ प्रेम के क्षणों का समन्वय है।

[योग प्रशिक्षक, जिला शिक्षा कार्यालय, कुल्लू]

---

1. घास। 2. एक नर्म झाड़ी का नाम। 3. रक्त।
4. आज के बाद। 5. उपद्रवी।

कांगड़ी बोली में

राजा रसालू का झेड़ा

योगेन्द्र सिंह 'तूर'

लोक-साहित्य में सभ्यता के विकास एवं ह्रास का जो निश्चल, निष्पाप तथा सजीव स्वरूप सामने आता है इसकी लिखित साहित्य में सम्भावना मात्र ही की जा सकती है। वस्तुतः लोक-साहित्य लोकमानस का वह आईना है जो धूप में पक कर, सर्दी में सिकुड़कर, बरसात में जंग रखाकर भी अपनी पारदर्शिता को नहीं त्यागतता है। जीवनानुभावों से परिपक्व मानवीयता के भावों से परिपूर्ण लोक-साहित्य निश्चय ही आज दुर्लभ होता जा रहा है। आपाधापी, लूटखसूट, छीना झपटी तथा भाईचारे का हत्यारा युग आज हमारी नज़रों में है—क्या ऐसे माहौल में लोक-साहित्य अपनी मूल्यवत्ता को प्रबलता से कायम रख पाएगा? निश्चय ही यह विचारणीय विषय है। मुखौटा ओढ़ी आज की जिन्दगी अपनी संस्कृति तथा सभ्यता की सुनहरी परम्पराओं एवं स्वच्छ रीति-रिवाजों से अलग-थलग पड़ गयी है। आज तेज और तेजतर जीवन में घोर अनास्था का जोश। ऊब ऊबकायी। जम्हाइयों का वायुमंडल क्या आदमी की जिन्दगी को खोखला नहीं करता जा रहा है। आज के आदमी की भटकाव भरी जिन्दगी जब अपनी तन्हाई की सीमा लांघ जाएगी तो वह जरूर अपने अतीत में अथवा अपनी संस्कृति और सभ्यता की ओर उन्मुख होगा···ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास है। तब लोक-साहित्य को लोकमानस में ढूंढ़ा जाने की कोशिश की जाएगी किंतु तब तक लोकमानस अपनी स्वच्छ परम्परा तथा संस्कृति एवं सभ्यता से पूर्णतः वंचित हो चुका होगा। कोई भी बनजारा लोक धुनों पर मस्ती से गाता हुआ नहीं मिलेगा, कहीं भी औरतों का समुदाय जन्म-मरण तथा विवाह आदि अवसरों पर लोकगीतों को गाती हुई नहीं मिलेंगी, कहीं भी तीज-त्यौहार पर मांगलिक गीतों की आवाजें सुनायी नहीं देगी।

इसलिए आवश्यकता यह है कि हम अपने-अपने खंडों के लोक-साहित्य को संपूर्णतः लिपिबद्ध कर लें। कहीं ऐसा न हो कि कोई अंश छूट जाए। इस दिशा में लोक-साहित्य में गाथाएं, गीत, झेड़े झमाकड़े बारहमासा, छमाड़े आदि के संग्रहों को प्रभूत मात्रा में लिपिबद्ध करने का प्रयास सराहनीय हो चुके हैं।

कांगड़ी बोली में लोक-साहित्य पर पर्याप्त मात्रा में शोधकार्य हुआ है और हो भी रहा है। किंतु अब भी लोक-साहित्य के कई पक्ष संगृहीत नहीं हो सके हैं। अप्रैल 1972 में शोध पत्रावली (भाग-2) में चार झड़े नूरपुरे दा राजा जगता, गढ़ मलौण रा राजा भरतरी, चम्बे रा कंजरू बा:मण प्रकाश में आए थे। इस

दिशा में जनवरी 1983 के 'सोमसी' अंक में श्रीकृष्ण का झेड़ा एक और कड़ी जुड़ी थी। किंतु इधर एक नया झेड़ा 'राजा रसालू' को मैंने लिपिबद्ध किया है जो इन समस्त झेड़ों से सामग्री की दृष्टि से संक्षिप्त है तथा यह अपनी किस्म का अकेला झेड़ा है। जिसका मैं यहां उल्लेख करना चाहूंगा।

हिमाचली ग्रामीण परिवेश में सावन मास के दौरान लोक मंडलियां अनेक वीरतापूर्ण, धार्मिक भावना से ओत-प्रोत एवं उपदेश परक विविध झेड़े गाकर जहां साधारण लोगों को मनोमुग्ध कर देते हैं वहां के हिमाचल की पुरातन संस्कृति को भी उजागर करते हैं। राजा रसालू वस्तुतः 'नूरपुरे रा राजा जगता तथा गड़ मलौण रा' झेड़े के समतुल्य ही है जो अपने प्रतिपाद्य विषय के कारण इनसे हटकर है। शुरू की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

मैहलां दे थल्ले जांदया राजा रसालुआ
चोरा कइए के साध ऐ··············

राजा रसालू रानी कोकले को बहुत प्यार करते थे जो उनके महलों की शान थी। किंतु रानी कोकले वास्तव में किसी अन्य पुरुष से इश्क करती थी। इस चीज की भनक राजा रसालू के कानों तक पहुंच गयी थी। इसलिए वे स्वयं रानी कोकले के प्रासाद के चारों ओर सशंकित नजरें लगाए हुए थे। रानी कोकले ने देखा कि राजा रसालू महल के नीचे-नीचे जा रहे हैं। इसलिए वह राजा रसालू को अंधकार में ठीक तरह से जब पहचान नहीं पायी तो उसने चोर या साध दोनों में से एक होने की बात कही—

चोरां दे मैले कपड़े राणी कोकले
साधां दी चिटडी पोशाक······

राजा रसालू ने प्रत्युत्तर में यह कहते हुए व्यंग्य बाण छोड़ा कि सफेद धुले हुए वस्त्रों में मुझे राज" रसालू पहचानिए। क्योंकि चोर यानी दूसरों के दिल पर डाका डालने वाले ही फटेहाल मैले कुचैले वस्त्रों में रहते हैं। मैं तुम्हारा पति हूं न कि कोई आशिक।

कौन तां नौता मेरिया चौंकिया राणी कोकले
किस्से ने सट्टिया खंगारा ऐ··········
मैइं तां नौती तेरिया चौंकिया राजा रसालुआ
मैइं तां सट्टिया खंगारा ऐ··············

राजा रसालू अपनी रानी कोकले के महलां तशरीफ लाते हैं। उन्हें अपनी चौकी पर स्नान किए जाने पर और भी दिल में शंका पैदा होती है तथा इसी बीच कहीं से खंगारने (गले की आवाज) का शब्द सुनायी देता है। रानी चतुरायी से कहती है कि मैंने ही 'खंगारा' है तथा तुम्हारी चौकी पर भी मैंने ही स्नान करने

का दुःसाहस किया है। किंतु वास्तव में यह स्नान रानी कोकले के किसी 'यार' ने किया हुआ था जो कई दिनों से दयनीय स्थिति में नहलाया तक नहीं था। कपड़े भी मैले कुचैले इसीलिए ही थे। अतः रानी कोकले ने उसे नहलाकर उसके साथ शारीरिक सम्बन्धों की पूर्व तैयारी करवायी थी। उसने नारी 'चरित्तर' के द्वारा ही इस रहस्य पर पर्दा डालने की कोशिश की थी।

कौन तां सुत्ता साडे पलंगे राणी कोकले
किदी औरा मैहलां बास..............
साला तां सुत्ता तेरे पलंगे राजा रसालुआ
उदी तां औए मैहलें बास ऐ............

राजा रसालू की सशंकित दृष्टि ने यह भांप लिया था कि हमारे पलंग पर किसी ने विश्राम किया है। यहां किसी का विश्राम करना वस्तुतः अर्थपूर्ण हो सकता था इसलिए रानी कोकले ने यह कहकर बात टालने की कोशिश की कि आपका साला साहब यानी मेरा भाई इस पलंग पर सोया था और उसी की देह की गंध आ रही होगी।

मैना तां तोता साडे बाग च राणी कोकले
कँदे न मैहलें अइया कोइ होर ऐ.........
मैना दिया मुंडीया मरोड़ी सट्टां राजा रसालुआ
तोते दी लमडी उडार............

राजा रसालू को अपनी रानी कोकले के 'यार' की जानकारी बाग में पिंजरे में बंधे तोते मैना से मिली थी। इसीलिए राजा को अपनी रानी की बातों पर जरा भी विश्वास नहीं हो रहा था। किंतु रानी कोकले ने इसका भी प्रतिपादन किया तथा यह निश्चय दोहराया कि यदि यह बात सच न निकले तो वह मैना का गला घोंट देगी तथा तोते को उड़ा देगी।

इस प्रकार प्रस्तुत झेड़े का समापन हो जाता है। इस झेड़े में नारी 'चलित्तर' का सुन्दर उल्लेख मिलता है। पर पुरुष प्रेमी नारी कितनी बेवफा तथा चतुर होती है इसका परिचय रानी कोकले के चरित्र से स्पष्ट हो जाता है। नारी मनोविज्ञान का सूक्ष्म तथा ठोस रूप इस झेड़े में प्रस्तुत हुआ है। ऐसी स्त्रियां अपने जीवन में बड़े से बड़ा खतरा मोल ले सकती हैं जो एक साधारण बात भी है। सजग जवाब हाजिरी में रानी कोकले का मुकाबला नहीं है। ऐसी मनोवृत्ति उन औरतों में पायी जाती है जो सेक्स के मामले में असंतुष्ट रहती है तथा अपने पति को खूब मूर्ख बनाती हैं। रूसी उपन्यासकार तोल्स्ताय का उपन्यास 'अन्नाकिरन्ना' इसका ज्वलंत उदाहरण है।

कांगड़ा का ऐतिहासिक परिदृश्य तथा वहां के लोकसाहित्य की रूपरेखा

रजनी बाला धींगड़ा

ऐतिहासिकता : कांगड़ा का प्राचीन नाम त्रिगर्त था। त्रिगर्त तीन नदियां अथवा गढ़े हैं—रावी, सतलुज और ब्यास। इसकी राजधानी नगकोट या भीमकोट थी। 'कोट' शब्द किले के लिए प्रयोग किया गया है। कांगड़ा को पहले कानगढ़ भी कहते थे। कहा जाता है कि देवताओं ने जालन्धर नामक दैत्य को मार कर उसके कान पर एक गढ़ा किया जिससे इसका नाम कानगढ़ पड़ा। कानगढ़ से फिर कांगड़ा पड़ा।

कांगड़ा घाटी के निवासी कई श्रेणियों में बंटे हुए थे। पहली श्रेणी राणा और ठाकुरों की है जिन्हें हम शासक वर्ग कह सकते हैं। इनके छोटे-छोटे रजवाड़े थे। शासक या सामन्तों का समूह राणा और ठाकुरों के बीच विभाजित था। बड़ों को राणा तथा छोटे को ठाकुर कहते थे। कालान्तर में इन राणाओं के बीच शक्तिशाली लोग पैदा हुए। ये राजा कहलाने लगे तथा इनके नीचे के छोटे-छोटे सामन्त अथवा ठाकुर ही कहलाते रहे। मि० बार्नस[1] लिखते हैं कि, "दूसरे प्रकार के राजपूत जिनकी इन पहाड़ी इलाकों में बड़ी इज्जत है वे प्राचीन छोटे-मोटे सामन्तों-राणाओं के वंशज हैं, जिनकी उपाधि तथा भूमि अधिकार राजाओं से भी पुराने हैं। इन छोटे सामन्तों की सम्पत्ति बहुत दिन पहले अपहृत हो गई, इनकी जमीनें बड़े राजाओं ने अपने राज्य में मिला लीं। फिर भी 'राणा' की उपाधि आज भी इनके पास है तथा इनके साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मियां इच्छुक रहा करते थे।"[2] कभी-कभी ऐसा होता था कि बाहर से आकर कोई क्षत्रिय राजा स्थानीय सामन्तों, उपर्युक्त राणा और ठाकुरों को हराकर एक नए राज्य की नींव डाल लेता था, राणा और ठाकुर उसे कर देने लगते थे।

मुगल आए और उन्होंने पहाड़ी राज्यों पर भी हाथ फेरे। धीरे-धीरे ये सभी मुगल बादशाह के अधीन हो गए। प्रायः दो सौ वर्षों तक इनके ऊपर मुग़लों का आधिपत्य बना रहा। महमूद गजनी 1009 ई० में अपने टिड्डी दल के साथ घुस आया। श्री ब्रजेश्वरी देवी के मन्दिर को भूमिसात करके एवं देवी की प्रतिमा

---

1. Mr. Barnus, Kangra settlement Report Para—269
2. राजेश्वर प्रसाद नारायणसिंह, महाराजा संसारचन्द, पृ० 6 पर उद्धृत

का ध्वंस कर उसने यहां की सारी दौलत ले ली और चलता बना । परन्तु कांगड़े के किले पर से उसने अपना अधिकार न छोड़ा । अपनी सेना की मजबूत टोली वहां छोड़ गया जिसे तीस वर्ष बाद गद्दी से उतरे हुए कटोच राजा ने दिल्ली के तत्कालीन शासक महाराजा पर्ण भोज की सहायता से चार मास के युद्ध के बाद पुन: हासिल किया। कांगड़े का किला इस इलाके के गौरव की निशानी है। सम्राट अकबर ने भी इसे जीतने का प्रयत्न किया परन्तु ऐसा सम्भव न हो सका। परन्तु सन् 1605 में जहांगीर की फौजों ने कांगड़ा पर आक्रमण किया। सन् 1620 में मुगल सेना इस पर अधिकार करने में सफल हुई। सन् 1620 के पश्चात का कांगड़े का इतिहास छापामार युद्धों का इतिहास है । राजा हरीचन्द तथा उनके उत्तराधिकारियों की अवस्था वही थी जो बालि द्वारा निष्काषित सुग्रीव की हुई थी। मुग़लों से हारकर भी उसने युद्ध जारी रखा और अन्त में स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ते हुए अपने प्राणों की आहुति दे दी। उसके बाद राजा धर्मचन्द के छोटे भाई चन्द्रभान चन्द ने भी मुग़लों के खिलाफ़ युद्ध जारी रखा। बरसों के छापामार युद्ध के बाद औरंगजेब के राज्यकाल में बन्दी होकर दिल्ली जेल में पड़ा रहा। वहां पर ही उसकी मृत्यु हुई। सन् 1751 में घमण्ड चन्द ने गद्दी पाई, परन्तु ऐसे समय में जो भारतवर्ष के इतिहास में कई प्रकार से घटनापूर्ण कहा जा सकता है।

मुग़ल साम्राज्य का पतन हो चला था। उत्तर से अहमदशाह दुर्रानी, दक्षिण से मराठे प्रभुत्व स्थापन के प्रयत्न में लगे हुए थे। सन् 1752 में मुग़ल बादशाह ने पंजाब के साथ-साथ निकट के पहाड़ी इलाकों को अहमदशाह दुर्रानी को सोंप दिए । घमण्ड चन्द ने इस सुनहरी अवसर का लाभ उठाकर कटोच राज्य के समस्त प्राचीन इलाकों पर अपना अधिकार जमा लिया केवल कांगड़े का किला बच रहा जो अन्तिम मुग़ल नवाब सईफ़ अलीखां के अधिकार में था। जब राजा संसार चन्द गद्दी पर बैठे तो उन्होंने कांगड़ा दुर्ग को स्वतन्त्र कराने का प्रयत्न किया तो उन्होंने कांगड़ा दुर्ग को आज़ाद करवाने का प्रयत्न किया परन्तु इसमें वे सफ़ल नहीं हुए। तब उन्होंने जयसिंह कन्हैया की मदद मांगी दोनों की सम्मिलित सेनाओं ने किले पर घेरा डाला। नवाब सईफ़ अली खां मृत्यु शैय्या पर पड़ा हुआ था। उसकी सेना ने मुकाबला किया लेकिन हार खानी पड़ी तथा 1783 में किले पर जयसिंह कन्हैया ने अधिकार कर लिया। संसार चन्द को निराशा हुई परन्तु वे अनुकूल समय की प्रतीक्षा करने लगे। सन् 1783 में किला संसार चन्द ने प्राप्त कर लिया। इसके उपरान्त गुर्खों ने आक्रमण कर दिया लेकिन संसारचन्द ने उन्हें मार भगाया। गुर्खों के साथ पहली मुठभेड़ महल मोरियन में हुई। विवश होकर संसार चन्द को किले में शरण लेनी पड़ी। किले का संगृहीत अन्न का भंडार फिजूल खर्चों के कारण क्षीण हो चुका था, संसार चन्द के निकट के सम्बन्धी गुलेर के राजा गुर्खों से जा मिले थे। चार वर्षों तक घेरा डालकर भी गुर्खे किले पर अधिकार न कर सके। इन वर्षों में उन्होंने किले को तहस-नहस कर डाला था। संसार चन्द ने महाराजा रणजीत सिंह की सहायता मांगी तथा गुर्खों को भगा दिया। इसके पश्चात् किले पर सिखों का अधिकार हो गया। प्रथम सिख युद्ध के बाद सन् 1846 की 9 मार्च की सन्धि के अनुसार कांगड़ा अंग्रेजों के हाथ आया। 1905 तक यही स्थिति बनी रही। दुर्ग की वे दीवारें जिन्हें दुश्मनों की तोप न तोड़ सकी उसे पलभर में भूकम्प ने भूमिसात् कर दिया।

परन्तु अब कांगड़ा का क्षेत्रफल केवल 5334 वर्ग कि० मी० रह गया है। इसकी जनसंख्या लगभग आठ लाख है।

लोकसाहित्य

लोकसाहित्य 'लोक' और 'साहित्य' शब्दों से मिल कर बना है। 'लोक' शब्द बहुत व्यापक है। "जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हुए अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान हैं उन्हें 'लोक' की संज्ञा प्राप्त है।"[1] "लोक साहित्य के अन्तर्गत वह समस्त बोली या भाषागत विशेषता आती है जिसमें—

(क) आदिम मानस के अवशेष उपलब्ध हों।

(ख) मौखिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो और जो लोक मानस में समाई हुई हो।

(ग) कृतित्व हो किन्तु वह लोकमानस के सामान्य तत्त्वों से युक्त हो, उसके किसी व्यक्तित्व के साथ सम्बन्ध रखते हुए भी, लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करें।"[2]

लोकसाहित्य : क्षेत्र विस्तार

लोकसाहित्य के क्षेत्र विस्तार के विषय में हम कह सकते हैं कि यह समस्त जातियों की परम्पराओं रीति-रिवाजों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों, लोकगीतों, लोक-कथाओं, लोकगाथाओं, मुहावरों, कहावतों तथा उन मान्यताओं का साहित्य है जो मौखिक रूप से बौद्धिक सम्पत्ति के रूप में एक मनुष्य से दूसरे को किसी कृतज्ञता के बिना प्राप्त होते हैं और जिनका संरक्षण करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है तथा जिन्हें वह अगली पीढ़ी को अपनी अर्जित सम्पत्ति के साथ देता चला जाता है।

कांगड़ा का लोकसाहित्य

कांगड़ा के लोकसाहित्य के अन्तर्गत लोकगीत, लोककथाएं, लोक गाथाएं, लोकोक्तियां, मुहावरे, पहेलियां आती हैं।

लोकगीत—लोकगीत लोकसाहित्य का एक अंग है। लोकगीतों की परम्परा बहुत पुरानी है। इनका रूप दिनकर की हेम किरणों सा सदा नवीन बना रहा है। आदिमानव ने जब भाषा को अपनाया होगा तो

---

1. डा० कृष्णदेव उपाध्याय, हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास प्रस्तावना, पृ० 4
2. डा० सत्येन्द्र, लोक साहित्य विज्ञान पृ० 4-5, 1962

प्रसन्नता के क्षणों में उसके दिल में रसात्मक अनुभूति हुई होगी, इन पलों में जो कुछ उसने लयात्मक ढंग से कहा होगा, वही सृष्टि का प्रथम गीत रहा होगा। यही गीत जब श्रोताओं ने अपने मन के उद्गार समझ कर गाया होगा तो वह लोक में प्रचलित होकर लोकगीत बन गया होगा। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "लोक-गीतों को आर्येत्तर सभ्यता के वेद"[1] माना है।

कांगड़ा में कई प्रकार के लोकगीत प्रचलित हैं कांगड़ा निवासी गीत-गाने के बहुत शौकीन हैं। हर खुशी के पल में वे गीत गाकर अपने हृदय के उद्गार प्रकट करते हैं। कांगड़ी लोकगीतों की कुछ पंक्तियां देखिए—

जन्म गीत—काले म्हीने दियां न्हेरियां रातीं,
जन्मेया कृष्ण मुरारी जी,
तुद जन्मे मेरे नो निध होए
जन्मां दे पाप नवारे जी।

विवाह गीत—सेहरे पहनी चलेयां जाणा माए,
सीता दे दे से जो
जाई धनुष चुक्की लैणां माए
सीता दे देसे जो।

त्यौहारगीत—लोहड़ी
राजड़यो, राजड़यो।
राजदुआरे आए भाई
राजदुआरे आए।

होली—हरि कैसे नरसिंह रूप बणाया
आधा रूप धराहरि नर का
आधा सिंह सुहाया
प्रभु कैसे नरसिंह रूप बणाया।

भक्तिगीत—कांगड़ा चूंकि देव भूमि इस कारण यहां पर भक्तिगीत भी बहुत अधिक प्रचलित हैं।
(क) भजो गोविन्द मेरे श्री जगन्नाथ जी
कूथू गुजारी अजकनी रात जी।

1. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय, भूमिका, पृ० 5

(ख) शिव कैलासों के वासी
धौली धार के राजे
संकट-संकट हरणा ।[1]

लोक कथाएं—लोक कथाएं लोक साहित्य का विशिष्ट अंग हैं : 'लोक' शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ है देखने वाला अर्थात् "ऐसा जनसमुदाय जो किसी घटना, दृश्य आदि का कर्त्ता अथवा अवलोकन कर्त्ता हो।"[1] लोक शब्द के लिए 'जन' शब्द भी प्रयोग किया जाता है। इन दोनों शब्दों का प्रयोग ऋग्वेद में बराबर मिलता है। फिर भी 'लोक' शब्द का प्रयोग अधिक उचित जान पड़ता है। "कल्पित कथा वस्तु वाली रचना कथा कहलाती है।"[2] लोक कथा से अभिप्राय: ऐसी कथा से है जो लोक मानस से उद्भूत हुई हो तथा जो मौखिक परम्परा द्वारा जीवित चली आई हो।

कांगड़ा में अनेक लोक कथाएं प्रचलित हैं। ये कथाएं राजाओं, परियों, व्रतों आदि से सम्बन्धित हैं जैसे :—पूरछठ, पंच भीष्म, हरतालिका, कृष्णजन्माष्टमी, होई अष्टमी आदि। ये सभी कथाएं अमुक नाम का एक राजा था' से प्रारम्भ होती हैं।

लोक गाथाएं—लोकगाथाएं लोकमानस की सहज रचनाएं हैं। लोक सृजना के ये रूप लोक इतिहास के बहुरंगी पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर एक नई आकृति, नया विवरण, नया संगीत तथा नया इतिहास अंकित मिलता है। लोकगाथाओं से अभिप्राय: ऐसी कथाओं से है जो गाई जाएं। कांगड़ा में बहुत सी लोकगाथाएं-गूगा क्षत्रिय, बिल्लिया तोते दा ब्याह, धोबन, कुल्ह आदि प्रचलित हैं। धोबन की कुछ पंक्तियां देखिए —

पूरब देसें दी धोबन
पाच्छमा जो आई
ए जी औंदी हुण आई ए धोबन
हाटां दे चुगाना नां।

कहावतें, पहेटियां, मुहावरे—कहावतें (लोकोक्तियां) पहेलियां, मुहावरे भी लोक साहित्य का एक अंग हैं। ये लोकचिंतन के अमूल्य रत्न हैं। जीवन के चुभते अनुभवों द्वारा ही इनका विकास होता है।

"कहावत सूत्र रूप में प्रयुक्त किया गया अनुभव सिद्ध वाक्य होता है जिसके द्वारा संक्षिप्त तथा

1. डा० सुशील कुमार 'फुल्ल', हिमाचल लोककथाओं का साहित्यिक अनुशीलन, हिमभारती अंक जून 1982 पृ० 1 पर उद्धृत
2. मणि प्रभाटीका, प्रबन्ध कल्पना कथा, अमरकोष 1957 पृ० 58

स्पष्ट रूप में सत्य का प्रतिपादन किया जाता है।"[1] लार्ड जॉन रस्सल का कहना है कि "लोकोक्ति एक व्यक्ति की बुद्धिमानी और अनेकों की चतुराई है।"[2] लोकोक्तियां अथवा कहावतें पहाड़ी भाषा का प्रधान अग हैं।

अन्धी मां पुत्तां जो नीं पछ्याणदी=बुरे समय में अपने भी पराए होने लगते हैं।
मुहावरे तथा पहेलियां भी लोकसाहित्य का अंग हैं।

मुहावरे—ऊंट तां कुछे पर बोरे भी कुछे=बड़ों के साथ छोटे भी बराबरी करने लगे।
चूहे बिल्लिया दा बैर=बहुत अधिक शत्रुता।

पहेलियां—टक-टक टैंजू, धरत पटैंजू,
तीन मुंडिया, दस पैर चलैंजू। (हल औक बैल)
मां पतली पतंग, पुत्र ठेलकू (कद्दू, काशीफल)
नाले नाले मैंह (भैंस) रडांदी
बाजी दन्दां माहणुआं खांदी (बन्दूक)

निष्कर्ष—लोकसाहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। लोकसाहित्य की सभी विधाएं कांगड़ा के लोक-साहित्य में पाई जाती हैं। लेकिन कांगड़ा के लोक-साहित्य की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें भक्ति भाव का पुट अवश्य मिलता है। लोकगीतों, लोक कथाओं, लोकगाथाओं आदि में कहीं न कहीं भक्ति भाव अवश्य पाया जाता है। इसका कारण यहां के लोगों का धार्मिक प्रवृत्ति का होना है। यहां के निवासी ईश्वर-विश्वासी हैं। वे हर चीज में भगवान की विद्यमानता को स्वीकार करते हैं। उनके इन्हीं विचारों का प्रभाव यहां के साहित्य पर पड़ा है।

[द्वारा पाल दवा-खाना, नगरोटा-बगवां, जिला कांगड़ा (हि. प्र.), पिन-176047]

---

1. Durga Bhagwat—An out line of jndian Folklore Page 46
2. ध्यान सिंह कुटलैहड़िया, हिमाचल की लोकगाथा पृ० ग पर उद्धृत

अमर वीर चरनू

पन्ना लाल जोगटा

हिमाचल प्रदेश के लोक-साहित्य में गीति-पद्धति की प्रधानता है। किसी लिपि-विशेष के अभाव तथा निरा-क्षरता के कारण इस देव-भूमि की मुख्य-मुख्य घटनायें लोक-गीतों के माध्यम से लोक जीवन में श्रव्य हैं। किसी घटना-विशेष को गीतिबद्ध कर लोक-कवि जीवन के आदर्शों को लोगों के समक्ष रखकर अतीत की घटनाओं की अविस्मरणीय एवं निरन्तर कड़ी जन्मा-जन्मान्तर तक लोक-गीतों के माध्यम से जन-जीवन में अमर रखते हैं। इन लोक-गीतों में श्रृंगार वीर करुण, वात्सल्य इत्यादि रसों का समावेश यत्र-तत्र देखने को मिलता है।

चर्चित लोक-गीत में शिमला जिला के अन्तर्गत ननखरी उप-तहसील (रामपूर बुशैहर) के पूनण ग्राम-वासी चरनू जो इस गीत का नामक है, का निहत्थे वीरता-पूर्वक सिंह के साथ द्वन्द्व-युद्ध की शौर्य-गाथा का वर्णन किया गया है। उपरोक्त तहसील के दो ग्राम पुनण तथा भोड़जा वर्तमान उप-तहसील ननखरी के मुख्यालय से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। इन ग्रामों में अब भी भेड़-बकरियां पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। नायक की एक भेड़ तथा बकरी को बाघ्र (चीता) ने मार कर अपना भोजन बनाया। उपरोक्त दोनों ग्रामों के ग्रामवासियों ने बन्दूक तथा अन्य अस्त्र-शस्त्र लेकर चीते का पीछा किया। चीते के शिकार के लिए चलते समय नायक को कई प्रकार के अपशकुन, उदाहरणतया बच्चों की छींक मारना, इत्यादि हुए परन्तु चरनू तो शेर का बध करने को प्राण-प्रण थे अतः उन्होंने उपशकुनों की अपेक्षा की। कुछ ही दूरी पर उन्हें एक झाड़ी के नीचे चीते की उपस्थिति का भान हुआ लेकिन किसी को भी उस हिंस्र श्रुशु के समीप जाने का साहस न हुआ। अनुश्रूति है कि चरनू ने इससे पहले 19 शेरों को मारकर अभूतपूर्व शौर्य का दर्शन किया था तथा यह शेर उसका बीसवां शिकार था। वीर नायक ने शेर को ललकारा। कहावत है कि जब विपत्ति आती है तो चारों ओर फन फैलाए मनुष्य वे घेर लेती है—ठीक उसी प्रकार शेर के झपटते ही एक ओर तो सारे ग्रामवासी भयभीत होकर भाग खड़े हुए दूसरे नायक की बन्दूक की कमाणी (Tigger) भी टूट कर बन्दूक नकारा हो गई। इन विपरीत परिस्थितियों ने उस वीर ने सिंह के साथ दृढ़ता-पूर्वक मल-युद्ध किया। लोक-कवि ने गीत में नायक की बन्दूक का नकारा होना, उनका द्वन्द्व-युद्ध के लिए शेर को ललकारना एवं द्वन्द्व-युद्ध का सरस वर्णन निम्न पक्तियों में निहित है :—

भरे बदूकर चरनू रे चूटे कमाणे,
सिंह्रा रो बेटो बाटे बोठो दाणे मशाणे।

तू सूई सिहणेरो हों खशणे रो जाओ,
धरा बणा शोटेआ लड़ैइखे आओ,
सिगा रो छूटो सिगटु सरगा रो गोला,
चरनू छूटो छेवड़ो कांडा रो मोरा ।

मल-युद्ध में नायक तथा चीता लड़ते-लड़ते एक ऐसे घनघोर जंगल में आ गए जहाँ निस्हाय नायक अपने कुत्ते को पुचकारते हुए कहता है कि हे मेरे स्वामीभक्त कुत्ते । सब ग्रामवासियों ने मुझे काल की साक्षात-मूर्ति इस शेर के सम्मुख छोड़ दिया है । आशा है तू इस भयानक जंगल तथा विपदा में मुझे अकेला नहीं छोड़ेगा । लोक कवि की गीत की यह मार्मिक पंक्तियां मूल रूप में उद्‌त है —

तु सूई सिहणे रो हों खशणे रो जाओ,
माला खेले हुई ले नटा खे जाओं ।
घणो लागो जांगला लड़ना खे घाटो,
सिहा सों इंजी मेरी या लागो न बाटो ।
छीबरा मेरा कूकरा धरमा रो भाए,
लाखी एस जंगला दे मूं एखली न पाए ।
लड़े पड़ा लौड़ेआ भोड़ज रा नागा,
जागा-जागी सूता मेरो णोगो बरागा ।

द्वन्द्व-युद्ध यद्यपि वीर चरनू ने सिंह को धराशायी कर दिया परन्तु स्वयं भी नायक इतना क्षत-विक्षित हुआ कि अन्तत: वीर-गति को प्राप्त हुआ । शरीर नश्वर है, एक-न-एक दिन सबने इस संसार से विदा लेनी है । फिर क्यों न वीरता-पूर्वक प्राण त्याग करें जिससे अपनी शौर्य-गाथा आने वाली पीढ़ियों का मार्ग-प्रशस्त करें । इस भाव की निम्नपंक्तियां नायक के दुखद परन्तु अमर इतिहास की कड़ियों को जोड़ता है—

शोले री लिखो कोठिया कूकड़ मोरा,
चरनू नौरा छेवड़ा पजदा न ओरा ।

अब लोकगीत का घटनाओं अनुसार वर्णन निम्न दिया जाता है—

धारा पड़ा नण्डकरे साहवा रा तांबू
दूधा आणो काढ़ना खे चरनू रा लांबू ।
साहबा ब्यारे आओ मांगतेरामा,
मेटा कौरा चरनू आ इन्तेजामा ।

पंडित मंगतराम नामक व्यापारी—साहब के तम्बू ननखरी की धार पर गड़ जाते हैं तथा चरनू मेट (इन्तजाम करने वाला गांव का मुखिया) को दूध, खान-पान इत्यादि प्रबन्ध के लिए उद्यत हो जाते हैं। साहब नायक की अपील के सम्बन्ध में पूछ-ताछ एवं अन्तिम निर्णय देने हेतु चरनू इत्यादि को बुलवाते हैं। पक्ष के पूर्ण तर्क सुनने पर भी साहब नायक की अपील रद्द कर देते हैं। चरनू सूंगरी नामक स्थान तक साहब को छोड़कर वापिस लौटता है जिसका वर्णन अधोलिखित गीत के बोलों में किया गया है—

चरनू बोठो सुखनन्दा तांबू री दुवारी,
मेरो दैआ नीरखा साहब ब्यारी।
हौलों बेटा चरनुआ कंुतीआ री बीऊं,
दैया न मेरो निरखा तों कैंदे खे नीहुं।
धारे पड़ा नंडखरे साहबा रा तांबू,
ओरु दे मेरो निरखा भलीया मांगू।
कुणे ता कियो तू बड़ो हाकमा कांगड़ा रो भाटा,
बड़ी तेरी मांदे री लाऊं लो छाटा।
साहबा दीणो अशीडोंटा सुंगरी सबाए,
पील गोए चरनू रे खारजा जाए।

अपील खारिज होने के पश्चात नायक वापिस घर लौट आता है। उन्हें देवी धार वाले स्थान की ओर से किसी की ऊंची ध्वनि सुनाई पड़ती है। वे अपनी धर्मपत्नी धरालटी को सुनने के लिए बरामदे में भेजते हैं परन्तु ध्वनि बच्चों के कोलाहल के मध्य लुप्त हो जाती है। धरालटी बच्चों को शान्त करवाती है तथा ध्यान-पूर्वक ध्वनि की ओर कान लगाकर सुनती हैं तभी उन्हें भाई प्रेमसुख के ये बोल सुनाई पड़ते हैं कि शेर ने उनकी एक भेड़ तथा बकरी का भक्षण कर लिया है—

पेशी गोआ खेलेआ धरा खे आए,
पेती हूबी चुंगड़े हेड़ा रे ढ़ाए।
देवी धारे पोरु भाईयो हांडा भौंचा बघैले,
भाईया लाए परीम-सुखा घराखे टिआले।
बौटी धरालटीआ तोंगा का शुणा,
देवी धारे परी भाईणो टैलीआ कुणा।
चुपा-चुपा छेड़ूआ कांग बी न लाओ,
देवरी धारा टैलिया ला बोला ला काओ।

जब नायक को यह पता लगता है कि उनकी एक भेड़ को चीते ने जान से मार दिया है तो वे अपनी भेड़ का बदला चुकाने के लिए चीते का शिकार करने का संकल्प लेते हैं। उनकी माता श्रीमती सुमदासी अपने बेटे को शिकार के लिए व्यग्र देख उन्हें उत्साहित करते हुए मधुर वचन में पुत्र को सचेत करते हुए कहती है कि चीते-भालू किसी के सहोदर नहीं होते अतः शिकार सोच-समझ कर ही करना। उनकी पत्नी धरालटी भी अपने पति को परामर्श देती हुई आग्रह करती है कि सर्व-शिरोमणी बनकर नासीर-सेना का नेतृत्व न करें। परन्तु नायक तो सिंह के साथ मुठ-भेड़ के लिए कृत-संकल्प एवं व्यग्र थे अतः उन्होंने मां तथा पत्नी को सांत्वना देते हुए कहा कि आप लोग तो अकारण चिन्तित हो रहे हैं। मैं चीते भालू का कई बार शिकार कर चुका हूं मैं शेर को छट्टी का दूध पिलाता हूं। माता तथा पत्नी का सचेत करना तथा नायक द्वारा उनको सान्तवना देने का सरल सम्वाद लोक कवि ने निम्न पंक्तियों में किया है—

भरे खाए मोले बांकरे कांडे,
तैंरी आदे चरनुआ रैंफला डांडे।
भेरे खाए मोले बाकरे बरासे,
तेरी आदे चरनू रा रोशा रे आशे।
ओरू दे मेरो तोस्ताना जामणा बादूका,
भावा न मेरा इजीया जीवा दे सुखा।
मावड़े तेरे सुमदासे बड़े सजाणा
दूधा चाणा चावला रो चरनू को खाणा,
मावड़े दैआ सुमदासे फीरेआरो नोरो,
रीख-बराग हूंदो नीं कसिरो सोरो।
बांटे धरालटे तेरे मतेआरे कोठे,
आगा न डैंआ मेरा माल्का पछाजा होटे।
ओरु दे मेरो तोस्ताना दारुआ रो पीपो,
सिंहा सो लडनो कमांइयां द लिखो।
ओरु दे मेरो तोस्ताना दारू बारूदा,
सिंहा रा मेरा सिंगटू खे पैंवणो दूधा।

चीते के शिकार खेलने के लिए जैसे ही चरनू तैयार हुए वैसे ही कई-प्रकार के अपशकुन होने लगे, उदाहरणतया बच्चे ने छीक मार दी, डेइण (तेज नजर वाली स्त्री) मार्ग में मिली। यद्यपि इन अपशकुनों के विषय में नायक भली-भांति जानते थे तथापि इन अपशकुनों की तनिक भी परवाह न करते हुए वे सिंह के साथ लड़ने को व्याकुल थे :

चरनू-परीमसुखा चाल्दा हुआ,
आगा लागा पहला शुई जोगणे रा मुंहां,
खोलीया निकलो पाथटू ढीको,
पीठें पाछे चरनू री छेड़ूआ छीको।
छेड़ू री छीकणी आ दीदो का बौरा,
सिंहा ना हेड़ा जाणा भाईयो आशु लो घौरा।

सिंह के निकट जाकर नायक उसे ललकारते हुए कहते हैं कि हे सिंह ! तू यदि ठीक अपनी मां की कोख से उत्पन्न हुआ है तो मैं भी खशीय बीरजाति का कुलनायक हूं। जो अपनी वीरता के लिए एक अद्वितीय जाति मानी गई है। परन्तु तभी चरनू पर विपदा का पहाड़ टूट पड़ा—एक तो उनकी बन्दूक टूटकर नकारा हो गई दूसरे ग्रामवासी भयभीत होकर भाग खड़े हुए। चरनू अकेले पड़ गए। इन विपरीत परिस्थितियों में भी उन्होंने धैर्य नहीं खोया, सिंह के साथ मल्ल-युद्ध करना आरम्भ कर दिया—कभी नायक नीचे लगा तो कभी सिंह—इस प्रकार द्वन्द्व-युद्ध करते-करते वे दोनों भोड़जू ग्राम के नाग-देवता के मन्दिर तक पहुंचते हैं जहां पर नायक सिंह को थका देता है। वहां पर घनघोर जंगल लगता है जिस कारण चरनू अपने प्रतिद्वन्द्वी से ठीक प्रकार नहीं लड़ सका तथा निःसहाय अपने कुत्ते को सहायता के लिए पुकारता है। द्वन्द्व-युद्ध का वीर-रस का यह दृश्य लोक-गीत के निम्न बोल में निहित है—

भरे बादुका चरनू रे चूटे कमाणे,
सिंहा रो बेटो बाटे बेशो दाणे मशाणे,
तू सूई सिंहणें रो हों खशणें रो जाओ,
घरा-बौणा शाटआ लड़ेईखे आओ।
सिंहा रो छुटो सिंगटू सरगा रो गोलो,
चरनू छुटो छैवड़ों काण्डा रो मोरा।
तू सूई सिंगणे रो खशणे री हांओ,
माला खेले डूई ले नौटा खे जांओं।
घौणों लागो जांगला लड़ना खे घाटों,
सिंहा सों इजी मेरीआ लागो न बाटो।
घौणों लागो जांगला नांदे बारूरा,
संगी-साथी चरनू रा शूणा ला दूरा।
संगीया दीणो साथिया अदमा पाए,

एक न हूओ इजीया मेरो पीठे रो भाए ।
छाटा लागी भागेआ भोड़जू लूंडा,
रीखा-बरागा आफी झांगा पूनणी खूंदा ।
लौड़े पड़ा लौड़ेआ भेड़ जूरा नागा,
जागा-जागी सूता मेरो णोगो बरागा ।
छींमरा नेरा कूकरा घरमा रो भाए,
लाखी एस जांगला दे मूं एखली न पाए ।

अन्त में नायक सिह को मारकर स्वयं भी गम्भीर रूप से घायल हो जाता है। अन्य ग्रामवासी उन्हें उठाकर घर ले आते हैं जहां पर कुछ समय के पश्चात वे स्वर्ग सिधार जाते हैं। नायक की इहलीला तो समाप्त हो जाती है परन्तु उन्होंने सिंह के साथ निहत्थे द्वन्द्व-युद्ध लड़कर तथा शेर को मारकर जो शौर्य एवं पुण्य अर्जित किया वह सदैव स्वर्ण-अक्षरों में लिख जावेगा।

संगीया चलो साथीयो होरशा लाए,
इणो न बोलणो चरनू गो खाए।
शोले री लिखो कोठीया कूकड़ू मोरा,
चरनू नोरा छेवड़ा पजदा न ओरा ।

निदेशालय, उद्यान विभाग,
हिमाचल प्रदेश, नौबहार,
शिमला-171002

महासुवी लोक-काव्य में पुष्प-त्योहार की महिमा

कृष्ण चन्द्र काएथ

प्राचीनता के आवरण में सुरक्षित नवीनता की परिधि को चीरते हुए ढेर सारे हिमाचली लोक गीत आज भी अपनी दिव्यमयी आभा से इस देव भूमि हिमाचल को सुरमय किए हुए हैं। प्रदेश के पूर्वोत्तर में स्थित प्राकृतिक सौन्दर्य से अंलकृत उत्यपतिका जिसका पूर्व नाम महासु रखा गया था उस उत्यपतिका के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रों में आज भी बहुत सारे ऐसे लोकगीतों का भंडार छिपा पड़ा है जिसके अण्त्रेषण करने पर सैंकड़ों लोक काव्यों की रचना की जा सकती है जिनकी ओर अभी तक अण्वेषणकर्ताओं का ध्यान आर्कषित न हुआ। इन पर्वतीय भागों के गाए जाने वाले लोक गीत अपने वेदो और उपनिषदों की कितनी ही कहानियों को अपनी मुक्तमाला में पिरोए हुए हैं। इस अछूते पड़े लोक-काव्य के भंडार की कुछ पंक्तियां शोध-स्नातकों के अवलोकन हेतु द्वापर युग से सम्बन्धित त्योहार महिमा विवर्णन से ओत प्रोत प्रस्तुत कर रहा हूं। इस लोक-गीत को बुशैहरी फुआल (भेड़-बकरियां चुगाने वाले) अपने रमणीय ऊचे-ऊंचे कांडों (पहाड़ की ऊंचाई) पर से अपने सुरमय कंठों से गा-गाकर नीचे पर्वतों के आंचल में बसने वालों को आनन्दित करते रहते हैं। यह गीत इन कांडों (पर्वतों) पर सुगन्धित पुष्पों के खिलने पर गाए जाते हैं। जब फुआल (चरवाहे) इन फूलों को देख-देखकर हर्षोल्लासित हो उठते हैं। ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों, चांशल-मराल कंडा और श्रीखंड आदि हिमशिखरों के आंचल में ब्रह्म-कमल बहुलता में पाए जाते हैं। इन पुष्पों का अपार भंडार-किन्नर कैलाश-रोर्लडिग पर्वत माला-रूकच वाल तथा सांगला-वरुआ कांड़ों पर भी मिलता है। ब्रह्म कवलों के साथ-साथ नेसर (जिसे किन्नौरी में पाऊ कहा जाता है) नहाणी आदि फूलों का भी भारी महत्व है। नहाणी (एक सुन्दर पर्वतीय फूल की जड़ जो दवाई बनाने के काम आती है) महासुवी फुआल इन फूलों को ऊंचे-ऊंचे पर्वत शिखरों से विशेष सावधानी के साथ ब्रत रख कर अपने-अपने इष्ट देवताओं को चढ़ाने के लिए लाते हैं। इन फूलों को चुनने बीनने वाले फुआलों के गांव में पहुँचने पर इनका विशेष अभिवादन किया जाता है। इष्ट देवों को पुष्प भेंट करने के बाद अगले दिन जगह जगह पर ग्रामीण मेले लगते हैं। इस अवसर पर जो गीत यह फुआल गाते हैं उन गीतों का विशेष महत्व है। क्योंकि इस गीत में पांच पांडवों के बनवास काल का हृदय को द्रवित करने वाला वह मार्मिक दृश्य सामने आता है। जब रानी द्रोपदी के आग्रह से यक्षराज के सरोवर पर से ब्रह्म कमल लाने को बारी-बारी से पांचों भाईयों को जाना

पड़ा था। उनकी उस विकट घाटी में क्या दुर्दशा हुई उसका विवरण गीत की इन पंक्तियों में पाठकों को पढ़ने को मिलेगा :

ढुला चौंरीया ओ, दुला शिरा लो !
देटूआ महेशरा लो, फूला तला लो !!
पांजा पांडुआ लो, कुन्ती माता ओ !
जागा ठडिया ओ, दाई भाईया लो !!
कंला नेसरा कांडा उंचीया आओ,
रछिआ करने लो देवा देवतेआ ओ !

शब्दार्थ : दुला चौंरीया = सुरा गाए के बालों से बनी (चोंरी) मक्खियों को भगाने का औजार। शिरा = माथा। देटूआ = देवता। महेशरा = श्री महेश्वर नामक देवता जिसके तीन भाई किन्नौर में चगांव, भावा और सुंगरा में रहते बताए जाते हैं। फूला = पुष्प। पांजा = पांच। पांडुआ = पांडव। जागा = स्थान। ठोडिया = गांव का पवित्र स्थान। कंला = कमल। नेसर = एक सुगन्धित पुष्प जो 12 हजार फुट से 14 हजार फुट की ऊंचाई पर पाया जाता है। उंचिया = बीन कर। रछिया = रक्षा।

भावार्थ : हे देवता श्री महेश्वर जी हम ऊंचे पहाड़ों पर से पहुंचने वाले फुंआल (चरवाहे) चोंरी झुला कर आपका अभिनन्दन करते हैं। आपके चरणों में ब्रह्म कमल और नेसर के उन पुष्पों को अर्पण करते हैं जिन पुष्पों को तोड़ते हुए हमने पांच पांडव और मां कुन्ती देवी का नाम स्मरण करना न भूला था। हम इन पुष्पों को आज यहां गांव के पवित्र स्थान (ठोडी) पर आपको भेंट करते हैं आप सदा-सदा हमारी और हमारी भेड़-बकरियों की रक्षा करते रहना।

रैंची लागे भैंदे, पओआ गे फाटे !
उठे मेरे भीमा लो, जाए कांडा मांथे !!

शब्दार्थ : रैंची = रात। भैंदे = खुलने लगी। पओआ = उषा काल। फाटे = होने को जा रहा है। भीमा = भीमसैन। मांथे = ऊपर !

भावार्थ : माता द्रोपदी अपने पतियों में से श्री भीमसैन जी को सम्बोधित करके कहतीं हैं, हे ! वीर पति देव, उठो रात खुलने ही वाली है अर्थात उषा देवी अपना लाल लाल आंचल बिखरने ही वाली है। मेरी पूजा का समय होने वाला है ! आप पर्वत के ऊपर से फूल बीन कर लाओ।

आज का दूसा आणे, राकसा सरा रा फूला !
आकी लगा शीरा लो आकी चोरा ढंला !!

शब्दार्थ : आज का दूसा = आज का दिन, राकसा = राक्षस (यक्ष को राक्षस कहते हैं), सरा = सरोवर, शीरा = माथा, मस्तक, आभी = स्वयं ही।

भावार्थ : माता द्रोपदी भीमसैन से कहती है आज तुम यक्ष राज के सरोवर के फूल (ब्रह्म कमल) उठा कर लाना जिसके बारे में मैंने सुन रखा है कि वे ब्रह्म कमल स्वयं उड़ कर मेरे इष्ट देव के मस्तक पर अलंकृत होते हैं। यानी मेरे इष्ट भगवान श्री कृष्ण जी को ब्रह्म कमल बहुत पसन्द है।

भीमा डेवो अर्जणा, नकला सह देओ !
युधु लागो सुचदें, आफी चालेगो सेओ !
सरा पहुचों राकसा, लागे गे चीशा।
टुं दे टूंओ पींदे पाणी, भाई सुतना दिशा !

शब्दार्थ : डेवो = गया, अर्जणा = अर्जुन, युधु = युधिष्ठर, सेओ = वह, चीशा = प्यास, टूं दे टूं ओ = प्रक्रिया, पीं दे = पीने लगा, सुतना = सो हुए, दिशा = दिखे !

भावार्थ : ब्रह्म कमल जब पूजा के लिए समय पर न पहुंच पाए तो अर्जुन धनुष धर कर तलाश में निकल पड़ा। उसके वापिस न पहुंचने पर—सहदेव और नकुल भी भाई युधिष्ठर के कहने पर उसी दिशा में चले गए। जब उन में से कोई भी वापिस न पहुंचा तो वह स्वयं ही शस्त्रों से सुसज्जित हो उन चारों भाईयों को तलाश करने चल पड़ा। यक्ष राज के सरोवर तक पहुंचते-पहुंचते उसको प्यास ने सताना शुरू किया। जैसे ही वह पानी पीने के लिए सरोवर में झुका तो उसकी दृष्टि अपने चारों बेहोश पड़े भाइयों पर पड़ी। यह देख कर वह व्याकुल हो उठा। और इधर-उधर देखने लगा।

का देखा युधुआ, ऐजो मेरो काया,
तू पीआ लो पाणी, तो न छाडी आया !
कुण तू का तेरा चाई—ऐ केला झांगा तेई।
उतरा ने देणो थो ईऊंआ। जो पूछो थो मैंई !!
ऐस बोलू डिवरा, मेरो ओलो लो थाना !
राकसा रो राजो, मुं धरती माना !

शब्दार्थ : झांगा = मोर, उतरा = उतर, देणो = दिया, ईऊंआ = इन्होंने, मैंई = मैने, डिवरा = तालाब, राकसा = यक्ष, राजो = राजा, धरती = पृथ्वी,

भावार्थ : शून्य से आवाज आई हे युधिष्ठर ! क्या देखता है। यह सब काम मैंने किया। तेरे चारों भाई अपनी अपनी प्यास बुझाने से पूर्व मेरे द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर देने में असमर्थ रहे। इस कारण इनकी यह दशा हुई। यदि तू भी ऐसा न कर सका तो तेरी भी यही दशा होगी। मैं इस सरोवर

का स्वामी हूं। मेरी शक्ति को सारा संसार जानता है।

पूछ आ मेरे राकसा-का तेरा पूछणो सुखा।
भाई मुआ मेरा-मेरा जो भोगणो दुखा !!

शब्दार्थ : मेरे आ=मेरे, पूछणो···पूछना, सुखा=जो तू पूछना चाहता है, मुआ—मरगे, भोगणो=सहन करना, दुखा=दु:ख।

भावार्थ : हे यक्ष राज ! प्रश्न पूछ। मैं उत्तर देने को तैयार हूं। क्योंकि मुझे अपने भाईयों की मृत्यु की अति चिन्ता है।

सरगा का कुण ऊंचो, माटी का का आछो,
भूजे ऐ मनीर, ऐरं तेरा भाई का पूछो।

शब्दार्ण : सरगा=स्वर्ग, माटी=पृथ्वी, भूजे=सरल करना, मनोर=मन की बात।

भावार्थ : हे युधिष्ठर ! बता कि पृथ्वी से कौन पवित्र है और स्वर्ग से कौन ऊंचा है। बस यही प्रश्न मैंने तेरे भाइयों से भी पूछे थे। अब तू ही उत्तर दे। वरना तेरी भी यही दशा होगी !

बाबा सरगा का बडो आई धरती का थाके !
न परख राकसा आपणी मति दे थाके !

शब्दार्थ : बाबा=पिता, सरगा का=स्वर्ण से, आई=मां, धरती का=पृथ्वी से, परख=परीक्षा, मति=ठिकाना में, थाके=रह।

भावार्थ : हे यक्ष राज ! सुन, पिता का स्थान स्वर्ग से भी ज्यादा ऊंचा होता है और मां का स्थान पृथ्वी से बड़ा होता है। हे यक्ष राज मेरी परीक्षा लेना छोड़ दे और अपने सामर्थ्य की बात कर।

खुशी हुओ युघुआ केजो तेरा भाई चैंई।
दूई छांट पौहला, बाकि ओं दें दो नाई !
छोटा चांई बौहला दुजी मां रा जा
कुरवा शुकाले तीयांरे मेरो धर्मा जा।

शब्दार्थ : खुशी हुओ=प्रसन्न हुआ, केजो=कौनसा, चैंई=चाहिए, दुई=दो, चांई=चाहिए, पौहला=पहले, दुजी मां=सौतेली मां, कुरवा=कोख, शुकाले=सुन्नी होगी, तीयांरे=उसकी।

भावार्थ : हे युधिष्ठर। मेरा मन यह उत्तर सुनकर बहुत खुश हुआ। अपने चार मरे हुए भाईयों में से कोई से दो मांग ले। यह सुन कर युधिष्ठर ने दो छोटे भाई नकुल और सहदेव को मांगा। यक्ष राज

हैरान हो गया। पूछने लगा कि अर्जुन से महारथी और भीम से बलशाली योद्धा को छोड़कर वह उन छोटे भाई को क्यों मांग रहा है। युधिष्ठर ने उसकी बात का उत्तर इस प्रकार से दिया कि हे यक्षराज सुन यह नकुल और सहदेव मेरी दूसरी मां के बेटे हैं। मैं उसकी कोख से पैदा हुए इन प्यारे भाईयों को अपने से अलग न होने दूगा। इससे उसका वंश समाप्त हो जाएगा। ऐसा ही मेरा धर्म और ईमान बोलता है। इनकी रक्षा करना मेरा परम धर्म है।

धरती मायी धर्मों तू तूही बणालो धर्मी राजो
वादा ढ़ला लो राजा लो अन धन मिला वादो
उठो वादा भाईयों, ऐजे मता मैंई ही तुमुला देणे
सुखी रआ ले आई लो खुशी रआ ले नेणे!
कलां-डोडो जेई कूला लो, तेई करा ताते आदा।
अच्छा करो करमा तारे धरमा रआलो सदा।

शब्दार्थ : माथी = के ऊपर। वणालो = बनेंगे। ढ़ला = झुकेंगे। वादो = सारा। यता = बुद्धि। तुमुला = तुमको। नेणे = पत्नि, प्रेमिका। कलां डोडो = ब्रह्म कमल। आदा = याद। करमा = कर्म। धरमा = धर्म।

भावार्थ : यक्ष राज ने खुश होकर युधिष्ठर से कहा कि हे युधिष्ठर पृथ्वी पर तू ही धर्म राज के नाम से प्रसिद्ध होगा। सब धन दौलत राज-महाराजे तेरे चरणो में झुकेंगे। तेरे सब भाई अब जीवित हो जाएंगे। जा जब जब भी यह ब्रह्म कमल पहाड़ों पर खिलेंगे, लोग तुम्हारी याद में आरती उतारा करेंगे। अच्छा काम करते रहना वही मानव का श्रेष्ठ धर्म होता है। इसके साथ चारों बेहोश पांडव पुनः जीवित हो गए। सुना है यमराज ने ही यक्षराज बनकर युधिष्ठर की परीक्षा ली थी।

इस प्रकार के अनेकों लोक-गीत जो अपने में कितने ही इतिहास आख्यान धर्म-अधर्म की बातें छुपाए हुए हैं। यहां तक की कई-कई गीतों में बिमारी तक दूर भगाने के मन्त्र भी विराजमान है। अच्छी अच्छी आयुर्वेदिक औषधियों के नाम छिपे पड़े हैं। यह सब मिल सकेंगे तब जब हम निष्पाप भाव से इस शोध कार्य को प्रारम्भ कर पायेंगे अन्यथा वह गुप्त लुप्त धन हमसे ओझल ही रहेगा।

वर्मा बिला—अरन बिला
अप्पर कैथू, शिमला-171003

महासू देवता का नृत्य

कुशल देव

हिमाचल के मेलों की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यहां के मनुष्य अपना मनोरंजन स्वयं ही नहीं करते अपितु यहां के स्थानीय देवी देवता भी अपनी नृत्य एवं नाट्य कला का प्रदर्शन करके लोगों का मनोविनोद करते हैं। यहां के महासू देवता का नृत्य सर्वप्रसिद्ध है। वास्तव में यह शिव का ताण्डव नृत्य है। जिस प्रकार नटराज शिवजी अपने डमरू की ताल में नृत्य करते हैं उसी प्रकार महासु देवता भी अपने ढोल और अन्य साज-बाज के साथ उसी प्रकार का नृत्य करते हैं। इस तथ्य को एक यहां की स्थानीय कहावत भी पुष्ट करती है कि महासू नाम महाशिव का ही दूसरा नाम है। यह नृत्य शिव के उद्धत नृत्य जैसा ही लगता है।

जब कहीं किसी मेले या उत्सव का आयोजन महासू देवता के माध्यम से किया जाता है वहां पर पहले महासू देवता का ही नृत्य होता है। तत्पश्चात ही लोग अपने नाच गाने एवं अन्य खेल-कूद आदि का कार्यक्रम आरम्भ करते हैं।

महासू देवता की पालकी यद्यपि नचाने के लिए उपयुक्त नहीं हैं, जैसे कि अन्य खण्टू आदि देवताओं की पालकियां जटाओं वाली होती है, तथापि इसका नाच बहुत ही अच्छा लगता है। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि यह नृत्य कैसे लेता है। उसके लिए व्यक्ति विशेष नियुक्त होता है। जिसको देवता का माली कहा जाता है। यह व्यक्ति देवता की पालकी के समीप जाकर आंख मूंद कर देवता का ध्यान करता है, जिससे उस व्यक्ति को देवता की औतारी आने लगती है। इसके सूचक माली को होने वाली कम्पन है जब उसको देवता पूरी तरह प्रकट हो जाता है तो वह अपने कपड़ों को कमर तक उतार कर कमर के साथ बांध देता है। माथे पर भस्म लगा कर, हाथ में नृत्य के लिए ली हुई ढाल और तलवार तथा अर्धनग्न शरीर से ऐसा प्रतीत होता है कि मृगछाला धारण किये स्वयं भगवान शंकर ही भूमि पर अवतरित हो गये हैं। उस समय के बाजे से सारा वातावरण ही बड़ा रोमाञ्चकारी हो जाता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में एक कम्पन सी पैदा होने लगती है। तदनन्तर माली क्षीर और गोमूत्र से अपनी देह को पवित्र कर देता है। नृत्य के बीच में माली भंग, चरस भी पीने को मांगता है।

देवता की पालकी दो व्यक्ति कंधे पर लिए होते हैं—माली पालकी के आगे खड़ा हो कर 'तूरियों (जाति विशेष के लोगों) से अपने नृत्य के लिए बाजा बजवाता है। फिर तूरी लोग पहले देवता महासू के यश गान करते हैं और बाद में नृत्य के लिए उपयोगी जो वाद्य होगा उसे बजाते हैं। स्तुतिगान इस प्रकार है जिसको स्थानीय बोली में बरमाया कहते हैं।

(i) जेस बगते राजा काशमीरिया महाराज।
किरनी रीनाल दी किरमीर दानो पैदा हुअ थ-
राजा काशमीरिया महाराज।
आदमी खाई-खाई ओ बञ्जे की एरे थे
राजा काशमीरिया महाराज।
सात बमणेटु उणे भाटा रे खाये
राजा काशमीरिया महाराज।
तेस कारणे राजा काशमीरिया महाराज।
उणो भाट कुल्लु काशमीर पंहुचो
राजा काशमीरिया महाराज।
चार भाई महासू री फूलारी कण्डी चाम्बेरो पातर आणो
राजा काशमीरिया महाराज।
नीलो पाणी टपो राजा काशमीरिया महाराज
तेस बगता री छाल बाजू ले
राजा माशमीरिया महाराज।

(ii) नीलो पाणी टपो, राजा काशमीरिया महाराज।
चार भाई महासू री फूला री कण्डी चाम्बे से
पातर महेन्द्रथ बागा दी दबाओ आ
राजा काशमीरिया महाराज।
तेस बगते महाराज !
दुधोकुरू हली कियेई
दुधोकरू बाधु कियेई राजा काशमीरिया महाराज।
सुने रूपे रो साज कियो राजा काशमीरिया महाराज।
महेन्द्रथ बाग उल्टो सुल्टो बाई एरो राजा काशमीरिया महाराज।

सात भाई महासू रो उपान हुओ राजा काशमीरिया महाराज।
तेस वगतारी छाल बाजुलो राजा काशमीरिया महाराज।

(iii) महेन्द्रथ बाग उल्टो-सुल्टो बाओ राजा काशमीरिया महाराज ! सात भाई महासू रो उपान हुआ राजा काशमीरिया महाराज ! तेस बगते खण्डाई जानी माथे आसी मणारे मुङ्गरे कौरी कईलू बजीरे किर्मीर दानो मारो राजा काशमीरिया महाराज !

तेस बगता री किरमीराउट बाजु ले महाराज !

(iv) किरमीर दानो मारो राजा काशमीरिया महाराज ! सात भाई महासू रे भाग फोगल हुए ई राजा काशमीरिया महाराज। चालदे ले चालदो राज मिलो, बोठे उनोल खाई, बाशिके बाउरारो देश खाओ शेड़-कुलियाये दुणी विथरी खाई, बनाड़े त्राई कोटी क्यालुरो भण्डार खाओ गुडारु ए राँवी खल्टी बरशीला जाउँ शीली दुलाई खाई जाखे काली टुण्डोशल खाई पवासी ले काञ्छे भाई ले मुलुक नहीं थो तिणिये देव वणडाण्डो जीतो राजा काशमीरिया महाराज ! तेस बगता री छाल बाजुले महाराज !

इससे आगे की कहानी तूरी इस प्रकार कहता है कि—

सात भाई महासू रे भाग फोगल हुए ई राज काशमीरिया महाराज ! छः लाख किरन नौ लाख जंउसार खाई महाराज दिल्ली बाशाई जीती महाराज ! गुंङ्गी बईराट मारो सिम्वरी प्रकाश मारो। राजा नकुशला रे सुने रे रूपणी पेठ खाओ ! तेस घड़दे दुणी विथरी कु सुतु सुनार आणो, तिणिये खोटी छिणी मारी-आ तेसले सिहा रौ रूप कियो, राजा काशमीरिया महाराज !

इस गाथा में 'हे काशमीरिया महाराज' सम्बोधन महासू देवता को काशमीर के राजा देवता के रूप में किया गया है। पूरी गाथा में संक्षिप्त कहानी इस प्रकार है किरन घाटी में किरमीर दानव ने मनुष्यों को खाकर बस्तियां उजाड़ दीं। उणा भाट ने अपने सात पुत्रों की मृत्यु से दुःखी होकर कुल्लू-कशमीर में महासू देवता के पास दुहाई की और देवता से फूल की टोकरी और ताम्बे का पात्र प्राप्त करके उन्हें महेन्द्रथ बाग में दबाया। इससे सात महासु देवताओं का जन्म हुआ। जिनके नाम थे चालदा, बोठा, बाशिक, पवासी, शेड़ कुलियाऊ, बनाड़ और गुडारू ! इनके साथ पैदा हुए इनके वज़ीर कईलू ने किरमीर दानव का वध किया, इन सात महासु देवताओं ने जुब्बल, रोहड़ू तथा सीमावर्ती उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में अपने राज्य स्थापित किये।

सिरमौर के उत्सव-त्यौहार

□ एस० आर० पुंडीर

सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध सिरमौर अपने आप में अनोखा है। यदि सिरमौर की सांस्कृतिक धरोहर का बारीकी से अध्ययन किया जाये तो पता चलता है कि वहां कुछ ऐसा भी है जो विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं है। मसलन हुड़क गायन, ठोऊड़ा युद्ध, स्वांग, सिरमौरी नाटी, मोण परम्परा तथा ढेरों ऐसी अनोखी परम्परायें जिनका इस मूल रूप में अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है। सिरमौर के सर्वाधिक पुराने गीतों, कहावतों, लोक कथाओं, लोक गाथाओं, लोक धारणाओं व उनसे परस्पर मेल खाते रीति-रिवाजों का अध्ययन करने पर तो आश्चर्य होता है कि तब का सिरमौरी कितना बड़ा मनोवैज्ञानिक व सुलझा हुआ समाज शास्त्री था। वह मानसिक रूप से कितना अधिक विकसित था। समाज व सामाजिक मूल्यों का उसने कितना बारीकी से अध्ययन किया था। सामाजिक मूल्यों को उसने न केवल समझा था बल्कि अपनी संस्कृति की विभिन्न विधाओं में उसे उभारा भी था। स्थान-स्थान पर ऐसे सामाजिक, राजनैतिक एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण मिलते हैं जो गहन चिन्तन का ही परिणाम हैं। सिरमौर की इन समृद्ध परम्पराओं के प्रतीक यहां के उत्सव-त्यौहारों को एक ही लोक-गीत में यों पिरो दिया है। जिससे इस सम्बन्ध में कभी भी भ्रांति उत्पन्न होने की आशंका नहीं रह जाती। हालांकि इस समृद्ध संस्कृति की लुप्त हो रही परम्पराओं को देख दिल को ठेस लगती है मगर जब तक इन परम्पराओं से जुड़ा एक भी उत्सव या त्यौहार कायम रहेगा तब तक उससे जुड़े गीत सिरमौर की पूरी संस्कृति का खाका खींचते रहेंगे। सिरमौर में मुख्य रूप से तेरह त्यौहार मनाए जाते हैं जिनका वर्णन इस गीत में किया गया है जो इन त्यौहारों का अभिन्न अंग है :—

ढाकिआओं ढाकिटू जियोंले तेरे
मां रासे खे मोन बोलो ला मेरे
ढाकिआओं ढाकि बोजाओंला बाणो
मेरे माई खोड़े रासे खे जाणो
फूके माई कोखियाटे बोघयाठे
धोरे माईये शिरो नायणों खे पाणी

तांओं मेरिये जाणो बी न देन्दी
तू मेरे ज्यानो दो प्यारो
मेरे मा जाणो की मोरिणो
थापे कि लाओं मेरे पोटाको
घुंघरू मारो ले झोणाको
मेरे मा खोड़े रासे खे जाणो
आगे एई होरे रे होरयाली
तोबे एई मोणो री मोणोई रे
ताओ मेरि जाणो भी न देन्दी
तू मेरे ज्यानो दो प्यारो
तोबे एई शावणों री शोणयाली
तोबे एई भोदो री पांचोई ला
तोबे एई ओशोऊजो री आठोईं ला
तोबी एई कातिए चितरा नोई दियाली
तोबी एई चितरा बूढ़ी दियाली
तोबे ओऊ पूशो रो तियारो
तोबे आया माघो रा ला खोड़ा
तोबे एई फागुणो री शिबोरात्री
तोबे एई चोईतो री आठोंई ला
तोबे ओऊ बीशु रो ला साजो
तोबे ओऊ जेठो रो मोऊलो
मेरे मां खोड़े रासे के जाणो
तांव मेरी जाणो भी न देन्दी
तू मेरे जियो दो प्यारो

(ऊपर लिखे गीत में बेटी रासा नृत्य को जाने की जिद कर रही है मां उसे धीरज बंधा रही है कि आज मैं तुझे जाने नहीं दूंगी। बारह महीनों में तेरह त्यौहार आते हैं तथा उन त्यौहारों को गिनवा कर कह रही है कि इन त्यौहारों में से किसी में भी नृत्य करने चली जाना बेटी, लेकिन आज मैं तुझे नहीं जाने दूंगी। तू मुझे जान से भी प्यारी है।)

उपर दिये गये गीत का अर्थ इस प्रकार है :—

प्रभु कृपा से तुम्हारे बाजगी (ढोल नगारे बजाने वाले) प्रसन्न रहें ।
मां मेरा जी रासा नृत्य करने को हो रहा है ।
बाजगी धुन बजा रहे हैं ।
मां मैं रासा नृत्य करने जाना चाहती हूं ।
मां लकड़ियों को जलाओ ।
मुझे सिर धोने को पानी गर्म करो ।
बेटी तुझे आज मैं नहीं जाने दूंगी ।
तू मेरी जान से भी अधिक प्यारी है मुझे ।
मां मैं जाऊंगी या मरूंगी ।
मां तुम मुझे इतना जोर से थप्पड़ मारती हो
कि मेरे सारे घुंघरू झनझना उठते हैं ।
मां मैं रासा नृत्य करने जाना चाहती हूं ।
बेटी सबसे पहले हरियाली का त्यौहार आता है ।
फिर मोण उत्सव आता है ।
तुझे मैं जाने नहीं दूंगी ।
तू मुझे जान से भी प्यारी है ।
उसके बाद श्रावण का त्यौहार शोणयाली आता है ।
उसके बाद भादों की पांचोई आती है ।
उसके बाद असोज की दुर्गा अष्टमी आती है ।
चितरा बेटी कार्तिक में नई दिवाली आती है ।
फिर चितरा बेटी बूढ़ी दिवाली आती है ।
उसके बाद पोष माह का त्यौहार आता है ।
उसके बाद माघ का खोड़ा आता है ।
फिर फाल्गुन माह की शिवरात्री आती है ।
उसके बाद चैत्र में दुर्गा अष्टमी आती है ।
उसके बाद वीशु पर्व आता है ।
फिर जेष्ठ माह की नई कोपलों को लेकर त्यौहार आता है ।
मां मैं रासा नृत्य को जाना चाहती हूं

बेटी मे तुझे आज नहीं जाने दूंगी
तू मुझे अपनी जान से भी प्यारी है ।

हरियालटी :—हरियाली से बिगड़ कर ही हरियालटी शब्द बना है । यह त्यौहार आषाढ़ मास में मनाया जाता है जब चारों तरफ हरियाली होती है । मक्की व मंडुए की गोड़ाई का काम समाप्त हो जाता है । ऐसे में दो दिन तक यह त्यौहार मनाया जाता है । अपनी बेटियों व विवाहित बहनों के घरों में गुड़, आटा जिसे "हरियालटी रा बान्डा" कहते हैं ले जाया जाता है । इस दिन इष्टदेव की पूजा होती है । देवता के मन्दिर के प्रांगण में गांव के लोग इकट्ठा होकर नाचते गाते हैं । जब इस त्यौहार का यह प्रतिनिधि गीत पुरुषों द्वारा गाया जाता है तो सारे माहौल में अजब मस्ती छा जाती है ।

चाल दादा मिलयारू जोऊंगे रे हेल्ला
तेथे शुणी कोथुरा बांठिणो रे हेल्ला
से दादा बेंगिये सुहाणी रे हेल्ला
सि दादा मेरे लोयावणी रे हेल्ला
(बड़े भाई चलो अपने विवाह के लिए लड़की ढूंढते हैं ।
मैंने सुना है कि कोथुर नाम की कोई सुन्दरी है ।
वह बहुत ही सुन्दर व मन को भाने वाली है
बड़े भाई उससे मैं विवाह करना चाहता हूं)

इस त्यौहार में कई लोग कुल देवी को बकरे की बलि भी देते हैं । त्यौहार के मुख्य पकवान पटवाण्डा, शहद, बेडोली, खीर, असकली होते हैं । यह त्यौहार मुख्य रूप से सिरमौर के पांवटा दून, नाहन व आस पास के क्षेत्र तथा हरियाणा से मिलते हुए पच्छाद के घाड़ क्षेत्र के कुछ हिस्से को छोड़ कर लगभग शेष समस्त सिरमौर में मनाया जाता है ।

मोण :—मेरे मोणे आया रे दादा रोययाड़ा होजुरे
कोपड़े सिलायो रे दादा रोययाड़ा होजुरे
दोरजी रो बेटा रे दादा रोययाड़ा होजुरे
कोपड़े सिलायो रे दादा रोययाड़ा होजूरे
बाजगी रो बेटा रे दादा रोययाड़ा होजुरे
बाजगे मोड़ाया रे दादा रोययाड़ा होजूरे

डांगुटी पोलाया रे दादा रोययाड़ा होजुरे
होजुरे को मोजुरे दादा रोययाड़ा होजुरे
वाजदू ही आया रे दादा रोययाड़ा होजुरे
मेरे मोणे आया रे दादा रोययाड़ा होजुरे···
(बड़े भाई इस बार मेरे मोण को आना
बड़े भाई इस मौके के लिए नये कपड़े सिलवाना
बड़े भइया जो दरजी का बेटा है
उससे नए कपड़े सिलवा लेना
बड़े भैया जो वादक का पुत्र है
उससे ढोल नगारे मढ़वा देना
डांगरे (शस्त्र, धारदार) की धार तेज कर देना
अवश्य आना, अवश्य आना
ढोल बजाते तथा नाचते हुए आना
बड़े भाई इस बार मेरे मोण में आना···

मोण का शाब्दिक अर्थ होता है एक मन (16 पत्थे अर्थात 40 सेर एक पत्था अढ़ाई सेर का होता है। जिसे आजकल 'मण कच्चा' भी कहा जाता है) इस उत्सव का यह नाम "मोण तिम्बूर" (16 पत्थे कुटा हुआ तिम्बर) से पड़ा या किसी अन्य कारणवश यह अभी तक भी अस्पष्ट है। इस उत्सव की कोई निश्चित तिथि नहीं होती है। सिरमौर के खश नम्बरदार बैठकर यह तय करते हैं कि मौण किस दिन निकाला जाएगा। इसके लिए पुरोहित से(भाट) भी दिन दिखाया जाता है। इसी तरह की परम्परा सिरमौर के साथ लगते हुए उत्तर प्रदेश के जौंसार बाबर के क्षेत्र में भी है। अमूमन यह उत्सव आषाड़ के महीने में ही होता है कई बार जौंसार बाबर व सिरमौर के खश इकट्ठा मोण निकालते हैं। यह उत्सव जौंसार बाबर व सिरमौर को एक-दूसरे के और भी निकट लाता है। वैसे भी तो सांस्कृतिक व सामाजिक दृष्टि से सिरमौर व जौंसार बाबर में लगभग 95 प्रतिशत समानता है। मोण में गांव के बूढ़े व नौजवानों दोनों में अजब मस्ती व उन्मुक्तता देखने को मिलती है। तब शर्म हया की सारी सीमायें टूट जाया करती हैं कई लोग तो मस्ती में इतने दीवाने हो जाते हैं कि उन्हें पता ही नहीं रहता कि वह क्या कर रहे हैं क्या बोल रहे हैं। इस नृत्य की एक खूबी यह भी होती है कि इस नृत्य की विशेष कोई पहचान नहीं होती लोग अपने-अपने तरीके से नाचते हैं फिर शराब का भी खुल कर प्रयोग होता है जिससे मजाक की सीमा भी इस हद तक बढ़ जाती है कि यह लोग एक-दूसरे को जी भरकर गालियां देते हैं और फिर हंसते हैं। मोड़ नृत्य का नंगापन महिलायें नहीं देख पाती हैं क्योंकि इन मस्त लोगों की उन्मुक्तता सारे फूहड़पन को अपने में समेट लेती है तथा उसे एक परम्परा का रूप देकर

आनंद लिया जाता है। ऐसे में ढेरों तिम्बर पीसकर लाया होता है। उसे पहले दोनों गुटों के मुख्य खश नम्बरदार पारस्परिक रूप से चखेंगे इसके बाद तिम्बर पानी में घोल दिया जाता है। मछलियां बेहोश होकर पानी के ऊपर तैरने लगती है और उन्हें पकड़ने का सिलसिला आरम्भ होता है। मोण में झगड़ा हो जाने की अधिक सम्भावनायें रहती है। खशों की आपसी दुश्मनी मिटाने का भी यह एक मौका होता है। लोग डांगरा, लाठी, बन्दूकें आदि साथ रखते हैं तदोपरांत जिस तरह वह नाचते-गाते मोण नृत्य करते हुए आए थे उससे भी अधिक उल्लासित हो नृत्य करते हुए घरों को लौट जाते हैं। सबके अपने बाजगी (वादक) साथ होते हैं। सिरमौर में 'मिनसा रो मोण' सबसे प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त छोटे नदी-नालों को छोड़कर 'नोईड़े रा मोण' भी काफी प्रसिद्ध है—

ढोले मोरो ली होंणों ढोले मोरो ली रोणों
ओशु गाड़णों भाईया-म्हारे मिनसा रो मोणो
फुलोफुलियारिये डाले फुलो लीं दायी
गुंछो रोए शोयरो घाड़ो मिनसा दे आई···
(ढोल बज रहे हैं—ढोल बज रहे हैं
इस वर्ष भी हमने भाइयो मिनासा (नदी) को मोण निकालना है
दाई (झाड़ी) पौधे में फूल आया हुआ है
मिनसा नदी में इस बार बहुत मोटी-मोटी गूंछ व शोयर (मछलियां) आई हुई हैं

सिरमौर के तथा जौंसार के खशों द्वारा मिनसा रा मोण कई बार संयुक्त रूप से भी निकाला जाता रहा है। इसे उत्तर प्रदेश व हिमाचल को सांस्कृतिक दृष्टि से जोड़ने वाला त्यौहार भी कहा जाता है। यह मुख्य रूप से पुरुषों का उत्सव होता है

शोणयाली—यह त्यौहार बीस गते श्रावण को मनाया जाता है। यह ऐसा समय होता है जब खेतों में खड़ी भरपूर फसलें अपने यौवन पर होती हैं तथा कोई भी प्राकृतिक आपदा यहां तक कि जरा सी तेज हवा भी फसलों को भारी नुकसान पहुंचा सकती है। ऐसे समय में यह लोग अपनी कुल देवी काली, टुण्डी, डुण्डी आदि को रोट (मर्द के हाथों बनी घी लगी मोटी गेंहूं की रोटी जो देवता के लिए बनाई जाती है) चढ़ाए जाते हैं तथा भरपूर फसल होने की कामना की जाती है। रात को गांव के सभी लोग एक मकान में इकट्ठा होकर नाटी नाचते हैं। शोणयाली शब्द श्रावण से बिगड़ कर बना है। वैसे भी इसका शाब्दिक अर्थ है—श्रावण माह में मनाया जाने वाला। इस त्यौहार का मुख्य पकवान खीर व शहद के साथ पटवाण्डे खाना व असकली भी बनाई जाती है। यह त्यौहार पांवटा तहसील के ऊपरी हिस्सों में तथा सिरमौर के भीतरी भागों शिलाई संगड़ाह, हरिपुरधार, मानगढ़ व पंझौता क्षेत्र में ही अधिक मनाया जाता है।

पांचोई—भादों की अमावस्या के बाद तीज को यह त्यौहार होता है। इस दिन भगवान विष्णु के अंशावतार माने जाने वाले महासू देवता की पूजा होती है। कई-कई गांवों से लोग महासू देवता के प्रमुख मन्दिरों पर इकट्ठे होते हैं। वहां रात भर महासू री कांकरी गाई जाती है वहां बड़े अनोखे दृश्य देखने को मिलते हैं। कई लोगों में देवता प्रकट हो जाते हैं जो अंगारे खाने, जलती आग में बैठने जैसे अनोखे करतब दिखाते हैं। यह लोग न तो तांत्रिक होते हैं न ही कोई तन्त्र विद्या जानते हैं। न ही इन्होंने किसी देव की सिद्धि की हुई होती है और न ही यह साधारणतया सिद्धी का ज्ञान रखते हैं। बस व्यक्ति का शरीर कांपने लगता है तथा उस पर कोई अन्य शक्ति हावी हो जाती है जिसके आवेग में वह यह सब कुछ करता है। महासू देवता प्रकट होकर लोगों की फरियाद—दुख-सुख सुनते हैं। यदि देवता कभी प्रकट होने में देर लगाते हैं तो कांकरी गाने वाली जोशीली देव गाथायें गाते हैं जिससे कुछ ही क्षणों में कई देवता एक साथ प्रकट हो जाते हैं। जिस व्यक्ति में देवता प्रकट होता है उसे 'ओतारीक' कहा जाता है। इस उत्सव को नागपंचमी से दो-तीन दिन पूर्व मनाया जाता है। उत्सव में नाग की पूजा करने जैसे कोई संकेत नहीं मिलते हैं। इस उत्सव की भी अपनी अद्‌भुतता है जो देखते ही बनती है। सिरमौर में द्राविल, शिल्ला, टेटियाणा तथा नघेता की पांचोई मुख्य रूपसे प्रसिद्ध है। वैसे तो जिस गांव में भी महासू देवता को मानने वाले रहते हो वही पांचोई मनाई जाती है लेकिन इन विशिष्ठ स्थानों पर तो दूर-दूर से हजारों की संख्या में लोग आते हैं। इस त्यौहार का विशेष पकवान पिनुए जिन्हें ढिढकी भी कहा जाता है, उलोअले तथा उड़द का पकवान होलु होता है।

ओशोऊजो री आठोइ—आठोई शब्द अष्टमी से लिए प्रयुक्त होता है। असौज मास की दुर्गा अष्टमी को यह त्यौहार मनाया जाता है। लोकधारणा है कि इस दिन 'काली माता' पृथ्वी पर अवतरित हुई थी क्योंकि जब अही रावण द्वारा राम लक्ष्मण का हरण कर उन्हें पाताल लोक में ले जाया गया था तो हनुमान ने पाताल लोक में जाकर 'काली माता' की सिद्धी की थी कि वह राम-लक्ष्मण के स्थान पर अही रावण की बलि ले ले तथा वचन दिया कि मृत्युलोक में जाकर वह उसे बलि देगा। चैत्र माह की दुर्गाष्टमी को वह लोग मृत्युलोक में आए थे तथा हनुमान ने असोज माह में दुर्गा अष्टमी को देवी को प्रसन्न करने को बकरे की बलि दी थी। इसी कारण इस त्यौहार में लोग देवी के मन्दिर पर इकट्ठा होकर नाचते गाते हैं, तथा काली देवी को बकरे की बलि दी जाती है। वैसे इस दिन यह लोग दुर्गा अष्टमी का व्रत भी रखते हैं। मांस न खाने वालों के लिए सीमियां व मीठा भोजन बनाया जाता है। इस त्यौहार में अपने इष्टदेव की पूजा भी की जाती है। लोग शक्ति पूजा करते हैं। युद्ध में लड़ने के शस्त्रों को झाड़ा-पौंछा जाता है उन्हे चमकाया जाता है तथा उनकी पूजा की जाती है।

नोई दियाली—सिरमौर में नई तथा बूढ़ी दो दिवालियां मनाई जाती हैं। कार्तिक मास में जिस प्रकार देश के अन्य भागों में दिवाली मनाई जाती है उसी प्रकार सिरमौर में भी इसे 'नोई दियाली' के नाम

से मनाया जाता है। विशेष बात यह है कि इस त्यौहार को अन्न-धन, दूध-पूत में बरकत देने वाला त्यौहार माना जाता है। इस दिन बैलों की खास खिदमत की जाती है। उनके सींगों तक को तेल से तर कर दिया जाता है। हल तथा कृषि में प्रयोग होने वाले औजारों जुला, कोशा (कुदाल), दातरा (दरात), बास न्याण, (बसौला तथा लकड़ी को छेद काटने वाला औजार), झावल (झब्बल या वारी), गोंयती (गैंती), फाला (हल के निचले हिस्से में लगने वाला लोहा), दांदल (गेंहू काटने वाली विशेष दराती), फोऊला (फावड़ा) आदि की पूजा होती है। इस दिन इष्टदेव व लक्ष्मी की पूजा होती है। यह त्यौहार सिरमौर के चंद भीतरी एवं जौंसार बाबर से मिलते हुए टौंस घाटी के कुछ क्षेत्र को छोड़कर बाकी पूरे सिरमौर में मनाया जाता है।

बूढ़ी दियाली—सांस्कृतिक दृष्टि से सबसे समृद्ध इस त्यौहार को माना जाता है। 'नोई दियाली' के ठीक एक माह बाद 'बूढ़ी दियाली' होती है। यह त्यौहार पूरे एक सप्ताह तक चलता है। त्यौहार से एक सप्ताहपूर्व गांव की कुंआरियां गांव के सांझे आंगन में रात को इकट्ठी होती हैं तथा बूढ़ी दियाली के शुभागमन पर मंगल गीत गाती हैं। इन गीतों में इष्ट देव वन्दना प्राकृतिक सौन्दर्य तथा त्यौहार के उल्लास व महत्व का खाका खीचा जाता है।

डाली फूलो स्यारो
कोदी आंदो रे नोंतिया
भीरूड़ियारो तियारो
दिवे लागो ली आंचो
भीरूड़िया रे तियारो रे
दिनों रोए रोवे चारो पांचो

(उपरोक्त गीत में एक महिला नोंतिया नामक व्यवित से उस (बूढ़ी दियाली) त्यौहार के बारे में पूछ रही है जिस त्यौहार से भिवरी का सम्बन्ध है कि वह कब आएगा तो वह कहता है कि उस पर्व के आने में सिर्फ चार-पांच दिन ही शेष हैं) लोकधारणा है कि यदि कोई कुंआरी सांझे आंगन में न जाए तो गांव के कुल देवी-देवता उससे रुष्ट हो जाते हैं। एक सप्ताह तक चलने वाले इस त्यौहार के हर दिन का अपना अलग-अलग रंग होता है। हर दिन की अपनी अलग परम्परा है। त्यौहार का आरम्भ 'बोड़ी राज' जला कर होता है। लोकधारणा है कि श्रीरामचन्द्र ने अयोध्या लौटकर पाया कि वहां रावण का भाई बलिराज राज्य कर रहा था तो अयोध्या लौटने के एक माह बाद श्रीरामचन्द्र ने बलिराज का वध किया था इसी खुशी में 'बोड़ी राज' जलाया जाता है व त्यौहार मनाया जाता है। इष्टदेव को इस अवसर पर 'मूड़ा' (भुना हुआ अनाज व चीवड़ा) अखरोट, मुरमुरे व बताशे चढ़ाकर लोग खुशी से झूमते हुए सांझे आंगन की ओर चलते हैं। लोकगीतों का सिलसिला पारम्परिक रूप से।

हेरा उल्ला फन्चकुलो
दाईयो से भाईयो फेन्चकुलो…

गीत गा कर आरंभ होता है। लोकगीतों व नृत्यों की इस कड़ी में महिलाएं एक लाड़ली बेटी 'भीवरी' की गाथा गाती है। लोग उन्हें रुपये, मूड़ा व अखरोट देते हैं जिसे बाद में वह उपस्थित लोगों में बांट देती हैं। भीवरी बड़े बाप की लाड़ली संतान थी जिसका विवाह कर दिया गया था। दिवाली के प्रथम दिन आंगन पर नृत्य करने के लिए गांव की सभी बेटियां पहुंच गई थी मगर भीवरी अभी तक नहीं आई थी फिर उसे बुलाने के लिए आदमी भेजा गया। जिस-किस तरह व भीवरी को उसके गांव से तो ले आया मगर आधे रास्ते में आकर भीवरी की पेट दर्द से अचानक मृत्यु हो गई। इसीलिए इस दिन को 'भीवरी' से ही पुकारा जाता है। इस दिन हर बहन अपने भाई के घर आती है हर बेटी अपने पिता के घर जाती है। जो नहीं आ पाती उन्हें 'भीराव' अर्थात भिवरी का हिस्सा (मूड़ा, अखरोट आदि) उनके ससुराल में पहुंचाया जाता है। इस त्यौहार में सिरमौर की संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के दर्शन होते हैं। लगभग हर प्रकार के लोक नृत्य व लोकगीत इस त्योहार में देखे-सुने जा सकते हैं। इन दिनों नाटकों, रासा (नृत्य शैली) हाकी (आदमियों का हाथी बनाना), हिरीण ('दियाली' का सबसे रोमांचक तीसरा दिन), खेलटू (स्वांग की एक शैली), सांग (स्वांग), चूड़ेल (स्वांग भूत शैली) आदि कई मनोरंजक कार्यक्रमों का समां बंधता है। रात-दिन लोग नाचते गाते रहते हैं। सारे माहौल में अजब-सी मस्ती छाई रहती है। जिसका रंग हर चेहरे पर देखा जा सकता है। इसी मौके पर पूरे सप्ताह हुड़क नृत्य चलता रहता है। हुड़क एक छोटा ढोलकी नुमा साज होता है। हुड़क का प्रचलन सिरमौर में कैसे आरंभ हुआ ? यह सवाल विस्तृत विवेचन चाहता है। जो कि विवादास्पद भी हो सकता है मगर मोटे तौर पर जिन-जिन स्थानों पर गुग्गा पीर को माना जाता है उन अधिकतर स्थानों पर हुड़क का प्रचलन मिलता है। सिरमौर हुड़क व राजस्थानी हुड़क में काफी हद तक समानता है (सिर्फ बनावट में) इसे बजाने की तो सिरमौर की अपनी सिरमौरी शैली है। यह लोग आंगन-आंगन जाकर गते हैं व नृत्य करते हैं इनके पास साज के नाम पर हुड़क, दबानटू (नगाड़ा), थाली व लोटा होते हैं। इनके द्वारा गाये जाने वाले लोक गीत ऐसे फिकरों से आरभ होते हैं—

पोयसा छोटा मोड़ो खे
डुमणी छोटी हारो खे
हो जुराही जुराही जुराही लो…

(एक व्यक्ति तीर्थ स्नान करने रेणुका गया पीछे से उसकी पत्नी किसी के साथ भाग गई)
ऐसे फिकरों के साथ समाप्त होते हैं—

सोदा रोए चेईं ओशीत

जुम्भाई जुम्भाई जुम्भाई लो···
(हम सदा ऐसे ही रहें जैसे आज हैं)

इन्हें लोग रुपया, मूड़ा तथा अखरोट देते हैं। जिसे वह लोगों में बांट देते। इस त्यौहार के एक महीना बाद तक मेहमानों का आना जाना लगा रहता है। अंतिम दिन लोगों का हुजूम हुड़क वालों के संग 'बूढ़ी दियाली' को विदा करता नाचता गाता हुआ हर आंगन में जाता है। इस त्यौहार की समृद्ध परंपराओं से इतनी लोक-गाथाएं, लोक कथायें व किवदंतियां जुड़ी हुई हैं जो बहुत रोचक एवं अनोखी भी है—मसलन खुली कथा-गाथा, छोन्दा माणीक (दो बहादुरों के अनोखे करतब) आदि। यदि उनका बारीकी से वर्णन किया जाए तो एक ग्रंथ का रूप धारण लेगी। इस त्यौहार में मौसमी त्यौहारों का प्रतिनिधि पकवान पिनुवा और लगभग हर तरह के प्रचलित पकवान बनाये जाते हैं। यह त्यौहार फुर्सत के दिनों में होता है। इन दिनों गेहूं आदि की बिजाई तथा घास काटने के काम निपटाये हुए होते हैं। पिछली फसल घर ला चुके होते हैं। यह त्यौहार सिरमौर के नाहन व आसपास के क्षेत्र, पांवटा दून, पच्छाद का हरियाणा से लगता धाड़ क्षेत्र तथा रेणुका के चंद भीतरी हिस्सों को छोड़कर बाकी पूरे सिरमौर में मनाया जाता है।

पूशो रो तियारो

सिरमौर के लोग त्यौहारों की कड़ी में 28 गते पोष को मनाए जाने वाले इस त्यौहार को सबसे बड़े त्यौहार का दर्जा देते हैं। 27 गते पोष को मीठा पकवान बनाया जाता है। 28 गते को वर्ष भर इसी त्यौहार के लिए पाले गए बकरों को काटा जाता है। गरीब हो अथवा अमीर बकरा हर घर में कटेगा। कई लोग खड्डू भी काटते हैं। बूढ़ी दियाली की भांति त्यौहार से एक सप्ताह पूर्व ही गांव की कुंआरियां त्यौहार के शुभागमन पर मंगल गीत गाती हैं। इन गीतों में कुल देव, इष्ट देव की स्तुति व त्यौहार के इतिहास व उसके आने की खुशी एवं उल्लास का वर्णन किया जाता है साथ ही उस समय की प्राकृतिक छटाओं को शब्दों में पिरोया जाता है। पूरे एक माह तक लोग मांस एवं मदिरा का आनंद लेते हैं। हर रात को नाटी का कार्यक्रम होता है। एक कमरे में बैठ कर लोग रात भर नाचते गाते हैं जिसे नाटी नृत्य कहा जाता है। कई ऐसे गीत एवं गाथाएं हैं जिन्हें इसी मौके पर गाया जाता है। हर शाम पारम्परिक रूप से लोक गीतों का सिलसिला 'पोयले पोयले लोयणा सिया रामों रा नांव···' गीत से आरम्भ होता है। रात-भर के नृत्य एवं गीतों के इस सफर में सुबह 'ब्याणुआ' दिखते ही (सुबह का संकेत देने वाला तारा) 'सिया हरण' गाई जाती है। रामायण की गाई जाने वाली इस गाथा की अपनी अलग विशेषता है यह रामायण गाथा अयोध्या की नहीं बल्कि सिरमौर की सांस्कृतिक परम्पराओं, विश्वासों एवं सामाजिक मूल्यांकन के निजी समीकरणों में ढली हुई है। इस त्यौहार से भी कई किवदन्तियां, वीर गाथाएं, भाई बहन के प्यार व शूर योद्धाओं के बलिदानों की

कहानियां जुड़ी हुई हैं । हालांकि इस बात के अब तक कहीं भी स्पष्ट संकेत नहीं मिले हैं कि यह त्यौहार क्यों मनाया जाता है ? सम्भवत: सर्दियों के दिनों में मांस मदिरा वाले इस त्यौहार के मनाए जाने का मुख्य ध्येय फुर्सत के दिनों में जीवन का आनंद लूटने का रहा होगा । भाई बहन का रिश्ता भी इस त्यौहार से जुड़ा है हर भाई अपनी बहन को 'तियारो रा बांडा' लेकर अवश्य जाता है भले ही उसे अपना जीवन जोखिम में क्यों न डालना पड़े इस त्यौहार में महीना भर खूब मेहमान बाजी चलती है । यह त्यौहार पांवटा दून, नाहन कालाआम तथा इनके आस पास के क्षेत्रों एवं हरियाणा से मिलते हुए कुछ क्षेत्र तथा रेणुका व पच्छाद तहसीलों के कुछ नाम मात्र के भीतरी क्षेत्रों को छोड़ कर पूरे सिरमौर में बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है ।

खोड़ा :—यह त्यौहार पोष के त्यौहार का ही एक अंग माना जाता है । यह आठ गते माघ को होता है । इस दिन भी पोष के त्यौहार की तरह ही बकरे काटे जाते हैं । मेहमानों का आना-जाना होता है तथा नाटी नृत्य हर शाम लोगों पर हावी रहता है । सिरमौरी नाटी का अपना अलग ताल होता है । नृत्य करने का ढंग भी अन्य नृत्यों से बिल्कुल जुदा होता है । अक्सर पुरुष ही नृत्य करते हैं तथा वही गाते हैं । गाने वाले, जिन्हें 'गोयणार' कहा जाता है जोड़ों में या अधिक संख्या में दो हिस्सों में बंट कर बैठे होते हैं बीच में स्थान नृत्य करने वाले के लिए छोड़ा जाता है । ढोलक, ढपली, लोटा, घड़ा आदि बजाया जाता है । एक ही कमरे में सारे लोग बैठते हैं । खोड़े के सम्बन्ध में लोकधारणा यह है कि 'खेड़े' में रहने वाले लोग (गांव से बाहर) जो पोष के त्यौहार में गांव नहीं आ पाते हैं उन 'खेड़वालों' के लिए खोड़ा मनाया जाता है । वह सब इस दिन गांव में जश्न मनाने को आते हैं । मगर कई लोग इस बारे में भिन्न विचार व किंवदन्ती को भी मान्यता देते हैं । असल में इसे अर्ध त्यौहार माना जाता है जो ठीक पोष के त्यौहार की परम्पराओं पर आधारित है । यह उन सभी स्थानों पर मनाया जाता है जहां पोष का त्यौहार मनाया जाता है ।

शिवोरात्रि :—फाल्गुन मास में शिवरात्री त्यौहार धूम-धाम से मनाया जाता है । इस मौके पर शिव के अंशावतार माने जाने वाले 'शिरगुल' देवता तथा शिव के देव रूप 'शिरदेव' की पूजा की जाती है । उनके मंदिर में भजन, कीर्तन, जागरण किया जाता है । कई लोग इस समय अपने इष्टदेव को मानी गई मन्नत भी पूरी करते हैं । मन्दिरों में भण्डारे, लंगर चलते हैं । इस मौके पर मीठा भोजन बनाया जाता है । सिरमौर के दर्जनों मंदिरों में ऐसे आयोजन होते हैं 'शिवा के शिरदेव' मंदिर में यह पर्व सर्वाधिक लोगों को आकर्षित करता है ।

चोईतो री आठोंई :—ऐसी लोकधारणा है कि चेत्र की दुर्गा अष्टमी को हनुमान 'कालीमाता' की सिद्धि करने के बाद राम लक्ष्मण को पाताल से रावण के कब्जे से छुड़ा कर ले आया था । इसीलिए इस दिन

यह त्यौहार मनाया जाता है । इस मौके पर भी अधिकतर काम निपट चुका होता है इस त्यौहार के मुख्य पकवान विनुआ, उलोउले, बेडोली, सिड़कू, पटवाण्डे, होलु आदि है ।

बिशु :—बिशु शब्द के साथ कई किंवदन्तियां व लोक धारणाएं जुड़ी हुई हैं मगर वह अधिक वजन-दार नहीं मालूम देती । बिशु शब्द का सम्बन्ध बैसाखी तथा 'बोशाव' (वैशाख) से भी जोड़ा जा सकता है । गांव की कुंआरियां बिशु के आने से एक सप्ताह पूर्व ही गांव के साझे आंगन में इकट्ठी हो कर मंगल गीत गाती हैं । बिशु का स्वागत करती हैं :—

जिजोटिये के माये बोलो
मेद्रियें बीशू खेलोदी आया
बीशू खेलोदी केयी ओऊं
मेरे घोरे नांदड़े बाले'''

(एक विवाहित बेटी को उसकी मां का संदेश दिया जा रहा है कि वह विशु खेलने को इस बार अवश्य आए मगर वह कहती है कि मैं विशु में कैसे आ सकती हूं मेरे पास छोटे-छोटे बच्चे हैं)

यह गीत इस उत्सव का प्रतिनिधि गीत है । जिसे खास तौर पर महिलाओं द्वारा गाया जाता है । इसे अन्य सभी गीतों से पहले गाने की परम्परा है । बिशु मेले अक्सर ऊंची धारों पर लगते हैं । लोग गाजे बाजे सहित नाचते हुए बिशु में आते हैं वहां ठोऊड़ा, जिसे ठोडा युद्ध भी कहा जाता है, बिशु का विशेष आकर्षण होता हैं । इसमें अनेक गांवों से ठोऊड़ा दल -आये हुए होते हैं जिनमें छंटे हुए योद्धा होते हैं जो तीरन्दाजी में बड़े प्रवीण होते हैं । इसमें एक दल के योद्धा उछलते हैं तथा अपनी टांगों को पीछे से किये जा रहे वार से बचाने की कला का प्रदर्शन करते हैं तो दूसरे दल के योद्धा निशाना ठीक मारने की कलाकारी दिखाते हैं । इसमें योद्धा (वादी व प्रतिवादी) जोड़ों में बंट जाते हैं । एक तीर मारने का एक अवसर लेगा तो फिर एक अवसर दूसरा योद्धा लेगा । योद्धाओं ने शरीर के बचाव के लिए मोटे मोटे ऊनी सूतन (पाजामें) पहने हुए होते हैं तथा ठोडा योद्धा के लिए टखने से उपर तक का मोटे चमड़े का बनाया गया विशेष जूता योद्धा पहने होता है । परम्परा के अनुसार तीर को घुटने से नीचे तथा टखने से ऊपर ही अक्सर मारा जाता है । ये योद्धा लोगों को हंसाने की कला में भी प्रवीण होते हैं अत: निशाना लगाने पर या वार बचा जाने पर योद्धा खुशी से झूमता है व मसखरी बातें कहता है । कई बार प्यार से हल्की-फुल्की गाली भी मसखरी लहजे में मुंह से निकाल दी जाती है जिसे बुरा नहीं मानते इस प्रकार जब तक एक दल तीरों की मार खाकर हार न मान जाये तब तक ठोऊड़ा चलता रहता है । बिशु का बहुत कुछ आधुनिकीकरण हो गया है। इन मेलों में अब दुकानें व हिंडोले आदि होते हैं । बिशु में मेहमानबाजी का फिर दौर चलता है । हर भाई अपनी बहन को 'बिशु रा

बांडा' (गुड़ एवं गेहूं का आटा) लेकर जाता है। बिशु के निचले क्षेत्र आज भोज से आरम्भ होकर सिरमौर के द्रबिल व उससे उपरी क्षेत्रों की ओर क्रमशः एक के बाद एक करके एक माह तक लगता है। सिरमौर के पांवटा दून, नाहन व आस-पास का क्षेत्र, रेणुका व पच्छाद के ददाहू व सराहां क्षेत्रों तथा कुछ अन्य भीतरी घाटियों में नहीं मनाया जाता है। मगर कुछ ऐसे स्थान जहां बिशु मेला नहीं होता है वहां पकवान बनते हैं। इस उत्सव के गुल गुले, बेडोली, खीर, माल पूड़े, मांस, असकली मुख्य पकवान हैं !

जेठो रो मोऊलो—सिरमौर में बसने वाला जन समुदाय पशुपालक है। कृषि पर आधारित है। जेष्ठ माह में जब पेड़-पौधों में नई कोंपलें आती हैं, पहाड़ों का सूखापन जाने लगता है। हरियाली जन्म लेती है। पशुओं के लिए हरे चारे की आस बंधती है तब सिरमौर का पशुपालक जन समुदाय फूला नहीं समाता। ऐसे माहौल में जेष्ठ माह के मूल नक्षत्र में यह त्यौहार मनाया जाता है। जेष्ठ माह वर्ष का सबसे जेष्ठ महीना तथा मूल नक्षत्र नक्षत्रों में जेष्ठ माना जाता है। जेष्ठ माह में आया मोऊल (नई कोंपलें) अन्य मौसम में पेड़ों पर निकलनेवाली नई कोंपलों से अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। इस त्यौहार में कुल देवता की पूजा की जाती है। शहद, पटवाण्डे, खीर, असकली इस त्यौहार के मुख्य पकवान हैं।

इनके अतिरिक्त सिरमौर में यह उत्सव एवं त्यौहार भी मुख्य रूप से मनाये जाते है—

परशुराम जयंती—प्रसिद्ध धार्मिक स्थल रेणुका में हर वर्ष परशुराम जयन्ती बड़े धूम-धाम से मनाई जाती है। रेणुका को भगवान परशुराम का जन्म स्थल माना जाता है। हजारों श्रद्धालु रेणु घाट पर स्नान करते हैं तथा मां रेणुका व परशुराम के मन्दिरों में जागरण होता है। कवि दरबार एवं रंगारंग कार्यक्रम भी होते हैं।

मेला रेणुका—हालांकि रेणुका की कथा यहां लिखना अप्रासंगिक होगा मगर उसे छू भर देना प्रासंगिक है। हमारे धर्म ग्रन्थों के अनुसार इक्षवाकु नरेश महाराजा रेणु प्रसेन जीत की कन्या रेणुका जी अपने पति महर्षि यमदाग्नि के साथ रामाद्री पर्वत के पार एक टीले पर आश्रम में तपस्या कर रही थी। तब वे आर्यव्रत राज्य के सम्राट सहस्त्रबाहु अपने अहंकार के नशे में डूब कर लोगों को सता रहा था। क्योंकि महर्षि यमदाग्नि उसे कामधेनू देने में असफल रहे इसलिए उसने महर्षि यमदाग्नि की हत्या कर दी और मां रेणुका अपनी लाज बचाने के लिए राम सरोवर (अब रेणुका झील) में कूद गई महेन्द्र पर्वत पर तपस्या कर रहे उनके पुत्र आत्माराम (अब परशुधारी परशुराम) की समाधि टूट गई उन्होंने सहस्त्रबाहु का वध कर दिया और उन्हीं के आह्वान पर मां रेणुका झील से बाहर आई तभी से प्रतिवर्ष देवठान एकादशी को भगवान परशुराम अपनी मां रेणुका को मिलने महेन्द्र पर्वत से नीचे आते हैं। उनकी इस शोभा यात्रा में अन्य देवी देवताओं की पालकियां भी शामिल होती हैं तथा हजारों लोग भाग लेते हैं। मेला रेणुका एक सप्ताह तक

चलता है जिसमें प्रतिवर्ष लाखों लोग भाग लेते हैं तथा रेणुका झील के पवित्र सरोवर में स्नान कर धर्म लाभ उठाते हैं। कई लोग मन्नतें मानते हैं। इस अवसर पर सांस्कृतिक कार्यक्रम, कवि दरबार तथा अन्य मनोरंजक कार्यक्रमों का सप्ताह भर आयोजन होता है। मां रेणुका के मन्दिर में भजन कीर्तन होता है।

गुग्गा नवमी—सिरमौर में गूगा नवमी बड़ी धूम-धाम से मनाई जाती है। ठीक पांचोई की तरह इस पर्व में भी देवता प्रकट होते हैं तथा गुग्गा पीर प्रकट होकर लोगों के दुःख-दर्द सुनते हैं उन्हें दूर करने को चावल के दाने देते हैं। नाहन के गुग्गा मन्दिर में इस अवसर पर 'छड़ियों का मेला' लगता है।

मेला त्रिलोकपुर—एक किंवदन्ती के अनुसार माता बाला सुन्दरी (दुर्गा का ही एक रूप) एक बनिये के नमक के साथ यहां आई थी। कोई भी सच्चे मन से कोई मन्नत यहां माने तो वह पूरी अवश्य हो जाती है। त्रिलोकपुर में माता बाला सुन्दरी का एक मन्दिर है तथा सामने पहाड़ी पर डाकू द्वारा बनाया गया माता लाया देवी का जीर्ण मन्दिर है। यह स्थल हर वर्ष लाखों लोगों को आकर्षित करता है यहाँ चैत्र के नवरात्रों में मेला भरता है जिसमें लाखों श्रद्धालू देश के विभिन्न भागों से आकर देवी बाला सुन्दरी के दर्शनों को आते हैं। यह स्थल तहसील नाहन के हरियाणा सिरमौर की सीमा पर स्थित है।

पांवटा का होली मेला—प्रसिद्ध धार्मिक एवं ऐतिहासिक स्थल पांवटा में सिक्खों के दसवें गुरु श्री गोविन्दसिंह ने जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण तीन वर्ष बिताये थे तथा यमुना तट पर तपस्या की थी। हर वर्ष होली पर यहाँ विशाल चौगान में मेला भरता है। यहां लाखों लोग देश के विभिन्न भागों से आकर पवित्र गोविन्द घाट पर स्नान करते हैं तथा गुरुद्वारे व यमुना दुर्गा मन्दिर में मात्था टेकते हैं। यहां हर धर्म व सम्प्रदाय के लोग समान रूप से आते हैं। इस तीर्थ को सर्वधर्म स्थल भी कहा जाता है। सिरमौर में और जगह तो होली (रंगों की) मनाई जाती है मगर इस मेले में रंग किसी पर नहीं डाला जाता है।

जागरा—यह एक ऐसा उत्सव है जिसका कोई समय निश्चित नहीं होता। अमूमन जिस किसी ने किसी देवता की मन्नत मानी हो वह मन्नत पूरी हो जाने पर देवता के मन्दिर पर जागरण किया जाता है। कई बार देवता को चूड़, यमुना व गंगा का स्नान करने को भी ले जाया जाता है तो कभी चूड़धार का स्नान करने (शिरगुल या बिजट देवता के उपलक्ष्य में) के बाद जागरण किया जाता है अगले दिन बकरा काटा जाता है या मीठा भोजन बनाकर लंगर दिया जाता है। ऐसे आयोजन बारहों मास आम होते रहते हैं। लगभग हर देवता के मन्दिर पर ऐसे आयोजन होते हैं। या कभी निश्चित समय के बाद देवता को नहलाने (तीर्थ) के लिए ले जाया जाता है तो भी भण्डारा (लंगर) एवं जागरण किया जाता है।

सराहां व नाहन के बावन द्वादसी मेले—हर वर्ष बावन द्वादसी को सराहां (ते पच्छाद) व नाहन में मेलों का आयोजन होता है तथा स्थानीय देवता की पालकी मेले में ले जाई जाती है। नाहन में तो जगन्नाथ की पालकी के साथ-साथ कई अन्य देवी-देवताओं की पालकियां भी बड़ी धूम-धाम के साथ मेले में पारम्परिक रूप से लाई जाती है। मेला एक से दो दिन तक ही चलता है।

पांवटा शरदोत्सव—गत तीन वर्षों से पांवटा में शरदोत्सव मनाने की परम्परा डाली गई है, लगभग पांच दिन चलने वाला यह उत्सव शरद् पूर्णिमा को ऐतिहासिक स्थल एवं प्रसिद्ध तीर्थ स्थल पांवटा में यमुना तीर आयोजित किया जाता है। इसमें अधिकतर ऐसे कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं जिनसे सिरमौर की समृद्ध संस्कृति की लुप्त हो रही परम्पराओं की रक्षा हो सके उन्हें फिर से चेतना दी जा सके। इस अवसर पर यमुना कवि दरबार तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम पांवटा घाटी के लोगों का खूब मनोरंजन करते हैं। इस अवसर पर आयोजित ठोडा प्रतियोगिता देखने योग्य होती है।

सिरमौरी वेष-भूषा—सभी उत्सव एवं त्यौहारों पर सिरमौरियों की वेष-भूषा लगभग एक जैसी ही रहती है। इनकी पारम्परिक वेश-भूषा में से घाघरा लगभग लुप्त हो चुका है। गोल टोपी लुप्त होने ही वाली है। अपने मोची द्वारा बनाये गये पहाड़ी शैली के जूतों का स्थान भी प्लास्टिक ने ले लिया है। लोईया अभी तक कायम है।

छोटड़ा तेरा लोईया बी भापटू
चीटा खोरा झाण्डी शी झूलो······
(छोटा तेरा लोईया मेरे भईया
बहुत सफेद झण्डी की भांति झूलता है)

मर्दों की खेशड़ी/गौंठी भी अब कल की बात हो चुकी है। अब तो कमीज पाजामा ही पहनते हैं सिर पर गांधी टोपी। महिलाएं सिलवार, झम्पर पहनती हैं सिर पर ढांटू बांधती है—

सी देखियों दादा बेगिये सुहाणी
जोबी कोशो ली ढांटू बी शीरे······
(बड़े भाई, वह तब बहुत ही सुन्दर व मनभावन लगती है
जब वह अपने सिर पर ढांटू बांध लेती है।)

नाक में सोने की नत्थ, गले में तरह-तरह के चांदी के तथा सोने के बने हार। कानों के झुमके, बालों पर लटकाने वाले विशेष गहने 'चाक' तथा 'लेजु', पायल, हाथ के चांदी के 'छलबले' चूड़ियां हाथों में अंगूठियां पहनती हैं। अगर त्यौहार में देखें तो 'सिरमौरण' गहनों से लदी हुई होती है। यह सिरमौर की पारम्परिक वेश-भूषा है।

ऊपर वर्णित मेलों, उत्सवों, त्यौहारों के अतिरिक्त सिरमौर में 'नावणे रा मेला' 'ओम्बोए रा मेला' जैसे दर्जनों छोटे-छोटे देव मेले तथा चंद मेले अन्य उद्देश्यों को लेकर भी लगते हैं। जिनका अपना स्थानीय महत्व होता है। यहां उन्हीं उत्सवों का विशेष तौर पर वर्णन किया गया है जिनकी समूची सिरमौरी संस्कृति पर गहरी छाप है, जो एक परम्परा बन चुके हैं जो समूचे सिरमौर में लगभग एक जैसे स्वरूप में विद्यमान है तथा सिरमौर की समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराओं के आधार स्तम्भ भी।

मुमताज मंजिल
रानीताल नाहन
(हि० प्र०)

बसोआ : एक विवेचन

नरेन्द्र अरुण

हिमाचल प्रदेश तीज त्यौहारों का प्रदेश है। सांस्कृतिक पर्वों का प्रदेश है। मेलों-मनौतियों का प्रदेश है। बारह-मासे अथवा षट्ऋतुओं में कोई न कोई मेला कोई न कोई तीज त्योहार आता ही रहता है। इन तीज त्यौहारों और मेलों में हमारे धार्मिक विश्वास, सामाजिक मान्यताएं, सांस्कृतिक जन-जीवन की झांकी लोक परम्पराओं के विश्वास विद्यमान रहते हैं। हमारे सांस्कृतिक जन जीवन की अमिट मान्यताओं एवं अटल आस्थाओं के प्रतीक हैं हमारे मेले, हमारे तीज त्योहार हमारे महोत्सव। वस्तुतः सत्य तो यह कि हमारी रूढ़िगत भावनाओं को जीवन्त रूप प्रदान करने वाले अमुक तीज त्यौहारों, मेलों-महोत्सवों के कारण ही हमारी संस्कृति फली-फूली है और उसका सामयिक विकास सम्भावित हुआ है। हमारी धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकता के प्रतीक मेलों ने हमें मातृभाव, स्नेह एवं पावन प्रेम के मोह जाल में बांधा हुआ है।

प्राकृतिक सुषमा के अगाध सौन्दर्य में सन्लिप्त चम्बा जनपद में तो मानो तीज त्यौहारों, मेलों उत्सवों का तो मानो तांता लगा रहता है। निश्चित है कि यहां के देसज तीज-त्यौहार शास्त्रीय विधिविधान के अनुसार विशिष्ट लोक परम्परा के अनुसार मनाए जाते हैं। ढोलरू, चर्पटनाथ का मेला, सूही का मेला, बसोआ, चौण्डी जातर, साहू जातर, खजियार जातर, घटासनी मेला, बाड़ी देवी जातर, महला जातर, बैरा जातर, मिंजर मेला, पतरोड़ू, देवी कोठी जातर बनी का मेला, मणिमहेश का मेला, भरमौर जातर, छतराड़ी जातर, मिन्धल जातर, नागमदौर जातर, लोहड़ी का त्यौहार, जसौर गठ-जातर, देहरा जातर, कुण्डी जातर, सलूणी जातर, छोचू मेला, दखरैंण जातर, बनी खेत जातर, बरेहड़ जातर, खुंजर महादेव न्हौण, साहू न्हौण, देवी देहरा जात्रा, तीसा गढ़ जातर, रथ-रथणी का मेला, किर्यास जातर, काली जातर, इवान जातर लिस्सू का त्यौहार, चम्पावती जातर, कड़ड़े जातर, देहरी घाटी जातर, फूल जातर बाड़ का त्यौहार, उत्तरेण का त्यौहार, सील का त्यौहार तथा परीद का त्यौहार चम्बा जनपद के मुख्य आकर्षण हैं। प्रायः हमारे मेले और तीज-त्यौहार हमारी पर्वतीय जनपदों की परम्परा और आस्था के दर्पण हैं। उपरोक्त तीज-त्यौहारों मेलों महोत्सवों के मध्य बसोए का अपना ही महत्व है।

वैसे तो बसोआ समस्त हिमाचल प्रदेश का त्यौहार है और विभिन्न जनपदों में इस महोत्सव का आयोजन बैसाख मास की संक्रांति को ही होता है। बसाओ समस्त हिमाचल प्रदेश में बिसु, विशु, विरशु, बसोआ, बछोहा, तथा लाहल शीर्षकों के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। बसोआ का त्यौहार मंडी जनपद में बसोआ, कांगड़ा में रली, कुल्लू जनपद में विरशु, महासू में विशु तथा चम्बा जनपद में विसु अथवा बसोआ के नाम से प्रसिद्ध है। मंडी, शिमला, (महासू) बिलासपुर, कांगड़ा, कुल्लू तथा चम्बा जनपदों में बसोआ अपने-अपने ढंग से मनाया जाता है। विभिन्न जनपदों में बसोए के प्रारूप की संक्षिप्त एवं सारगभित कहानी इस प्रकार है।

बसोआ त्यौहार विशेषकर, शिमला शैल माला के कुनिहार जनपद तथा मंडी में लाहल अथवा लाहौल मेले के नाम से भी मनाया जाता है। कांगड़ा जनपद में रली के नाम से ही बसोए का प्रारूप देखने को मिलता है। अतः लाहल, बसोआ, लाहौल विरशु, बिसु, विशु का त्योहार समसामयिक बदलती हुई मान्यताओं के आधार पर आज भी कुनिहार, कांगड़ा, बिलासपुर, मंडी, कुल्लू, महासू तथा चम्बा जनपद में मनाया जाता है। कांगड़ा में यह त्यौहार अपना वास्तविक नामकरण छोड़ कर रली के नाम से मनाया जाने लगा है। रली पूजन की परम्परा एवं सांस्कृतिक पर्व आज भी हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है। अधिकांश विद्वानों ने रली को शिव-पार्वती विवाह के कथासूत्र में पिरो कर बसोआ को मूल कथानक से हटा कर अन्याय किया है। वास्तविक तथ्य तो यह कि पौराणिक मिथकों में कहीं भी कोई ऐसा आख्यान उपलब्ध नहीं होता कि भोले शिवशंकर कोढ़ग्रस्त बौने, अपाहिज तथा गिलड़ वाले हों और पार्वती ने सुन्दर पति की स्वेच्छा प्रगट करते हुए आत्म-हत्या की हो। यदि इस तथ्य को स्वीकार भी कर लिया जाए कि पार्वती ने आत्म-हत्या की थी तो प्रश्न यह उठता है कि महाशिव का क्या हुआ? कहां गया वह भोला, बौना, ठिगना, कुरूप, कोढ़ग्रस्त अपाहिज एवं गिलड़ वाला शिव। विश्वसनीय है कि हिमाचल प्रदेश देवी-देवताओं की भूमि रहा है। दैवी लोक गाथाओं के अंध-विश्वास आज भी हिमाचल प्रदेश को प्रभावित किए हुए हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि कांगड़ा और कुनिहार के जनपद से कथानक का सम्बन्ध जोड़ा जाए तो इसी सांस्कृतिक गाथा का प्रारूप मंडी जनपद में कैसे पहुंचा। मंडी जनपद में भी शिव पार्वती का स्वरूप कैसे लाहौल (पार्वती) में बदला अथवा विकसित हुआ इस तथ्य की पुष्टि मात्र इस बात से हो जाती है कि जिस प्रकार कांगड़ा और कुनिहार जनपद रिश्तों के सूत्रों में बंधे हुए थे उसी प्रकार कुनिहार नरेशों की रिश्तेदारी मंडी के सकेतड़ियों से थी। कुनिहार की सत्य गाथा ही सम्भवतः धीरे-धीरे आसपास के जनपदों में इस विश्वास और सत्य को लेकर अपनाई गई कि कन्याओं को सदा सुन्दर वर की उपलब्धि हो। बसोआ / बछोआ के सम्बन्ध में विश्वसनीय है कि इसका उद्भव कुनिहार जनपद के कुनिहार नरेश स्व० राणा हरदेव सिंह की पीढ़ी से हुआ और उन्होंने भाग्य की विडम्बना से परियों जैसी राजकुमारी का विवाह कांगड़ा जन-

पद के कोढ़ग्रस्त, अपाहिज, गिलड वाले राजकुमार से करना चाहा। विवाह के समय देवस्थली के शिवालय में जब कंगना खोलने की रसम अदा की जाने लगी उस समय अपाहिज राजकुमार को ग्लानि उत्पन्न हुई और कुनिहार के तालाब में आत्म-समर्पण कर लिया, दूसरे ही पल नव-विवाहिता राजकुमारी ने छलांग लगाई। स्वीकार किया जाता है कि तभी से वधु के लिए सुन्दर वर की कामना के निमित्त राजकुमार और राजकुमारी की पुण्य स्मृति में 'बसोआ' आरम्भ हुआ और उन के प्रारूपों को शिव पार्वती के रूप में स्वीकारा जाने लगा।

हेम प्रभा शर्मा के एक लेख जो हिम भारती में प्रकाशित हुआ उसमें भी 'लाहोला रा मेला' नामक शीर्षक के अन्तर्गत शिव-पार्वती के रूप को स्वीकारने की बात कही गई है परन्तु यह कहीं भी स्पष्ट नहीं कि पार्वती ने आत्महत्या की। परन्तु लेख से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि पार्वती के ससुराल जाने की बिदाई में यह मेला बसोआ / बछोहा लाहौल के रूप में मनाया जाता है। मंडी स्थित चौराग में मनाया जाने वाला मेला इस तथ्य को भी सिद्ध नहीं करता कि पार्वती का जन्मस्थल चौराग था। भला वह ऐसे स्थान से जो उसका मायका था ही नहीं ससुराल क्यों जाने लगी।

हिमाचल प्रदेश के प्रमुख साप्ताहिक गिरिराज में एक लेख डा० ब्रह्मदत्त का भी प्रकाशित हुआ। परन्तु अन्तर इतना है कि कहानी शिव-पार्वती विवाह की और नाम रली पूजन का। डा० ब्रह्मदत्त ने रली पूजन के पीछे जिस कथा को आधार बनाया है उसकी अधिकांश घटनाएं सूर्य वंशी राणा कुनिहार के वंश-परम्परा में घटित सत्य कथा के अंशों से मेल खाती हैं। वे स्वीकार करते हैं कि कांगड़ा जनपद में नवोढ़ा की आत्महत्या की स्मृति में रली का त्यौहार मनाया जाता है और कालान्तर में इसी नवोढ़ा ने पार्वती का स्थान लिया। हमारी मान्यता भी यही है परन्तु आगे वे स्वीकार करते हैं कि एक युवा ब्राह्मणी का विवाह बाल ब्राह्मण से हुआ और ससुराल जाती बार वधु ने आत्महत्या कर ली वधु के वियोग में वर तथा वधु के भाई ने भी आत्म समर्पण किया। प्रश्न यह पैदा होताहै कि बाल ब्राह्मण से विवाह कोई अनोखी घटना नहीं। तद्युगीन समाज में बाल-विवाह की प्रथा थी। डॉ० ब्रह्मदत्त ने ऐसा भी कहीं नहीं लिखा कि बाल ब्राह्मण कोढ़ग्रस्त, अपाहिज या गिलड़वाला था। स्पष्ट है कि उन्होंने जनश्रुति को ही आधार बनाया।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि बसोए का लाहल/लाहौल/विशु/विरशु के रूप में हिमाचल प्रदेश के विभिन्न जनपदों में क्या मान्यता रही परन्तु चम्बा जनपद के बसोए की तो बात ही कुछ और है। चम्बा जनपद वैसे भी हिमाचल प्रदेश के अन्य जनपदों से कटा-कटा सा है। अत: स्वाभाविक है कि अन्य जनपदों की रूढ़िगत बसोआर्क कथानकों का प्रभाव यहां नहीं पड़ा। यहां जिस प्रकार भी बसोआ मनाया जाता है जैसे भी मनाया जाता है उसका अलग-थलग कथानक है। अलग-थलग मान्यता है और उपादेयता

भी । परन्तु इतना अवश्य है कि चम्बा जनपद में भी यह त्यौहार बैसाख संक्रान्ति को ही मनाया जाता है ।

चम्बा जनपद में इस समय ऋतुराज बसंत के चित्ताकर्षक दर्शन होते हैं । वसन्त की मधुमयी मुस्कान अपनी मनमोहक गंध बिखेरती हुई चम्बा की रंगीन फिज़ाओं में अपने मस्ती के मदमाते आलम में झूमती है। खेतों में लहलहाती हुई वसन्ती फसलें, वृक्षों का झूमता हुआ हरियालापन पर्वत शृंखलाओं की उपत्यकाओं में बहने वाली मंद-मंद समीर नव जीवन को मोहक बनाती हुई चली जाती है । एक दूसरे के प्रति आकर्षण एक दूसरे के प्रति प्रेम, एक दूसरे के प्रति सम्मिलन की भावना का मानस-पटल पर उभरना स्वाभाविक ही है । यही आकर्षण, यही प्रेम, यही सम्मिलन की भावना चम्बा जनपद की नर-नारियों के मध्य भी देखी-परखी जा सकती है । बसोआ भी इसीलिए चम्बा जनपद के नागरिकों को सम्मिलन का स्मरण कराता है । विश्वसनीय मान्यता है कि बसोए के पावन पर्व पर ससुराल गई हुई लड़कियों को पीहर अथवा मायके बुलाया जाता है । इस समय सभी विवाहिताएं अपने-अपने मायकों में अपने माता-पिता और भाई बहिनों के बीच होती हैं । बाबुल के अंगना में बैठकर अपने ससुराल में बिताए हुए भुगतभोगी क्षणों की मीठी कसक का अनुभव सुनाती बार ग्राम-बधुएं अपने मन का अव्यक्त भार हलका करके चैन की सांस लेती हैं । ससुराल में उनको क्या-क्या कष्ट झेलने पड़ते हैं । दिनचर्या के कार्य में उन्हें कितनी-कितनी दूर पैदल चलकर खेतों में काम करना होता है, कितनी-कितनी उतराई चढ़कर, नदी नाले पार कर के उन्हें पशुओं के लिए चारा लाना पड़ता है, कैसी कठिनाई से वे पनिहार से पानी भी लाती हैं तदोपरान्त नन्दन के ताने, सास-ससुर की झिड़कियों का वह मीठा-मीठा जहर नस नस में फैल जाता है । वह जहर कहीं उतरता है तो बस मायके आकर अपने मां-बाप के पास, भाई बहनों के पास अपनी सखी-सहेलियों के पास जिनके साथ उनका बचपन बीता है । वस्तु स्थिति तो यह है कि ग्राम-वधुएं 'बसोआ' की निर्दिष्ट तिथि के आने से पूर्व ही 'सादे' (बुलावे) अथवा निमन्त्रण की प्रतीक्षा में होती हैं कि मायके से उन्हें बुलावा आए अथवा कोई लेने आए । बस एक बार निमन्त्रण आए अथवा उन्हें कोई लेने ससुराल आ पहुंचे तो उनकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती ।

चम्बा के गद्देरण क्षेत्र भरमौर जनपद में अमुक त्यौहार की मान्यता इसलिए भी अधिक है कि अक्तूबर-नवम्बर मास में जो गादी भेड़-बकरियों के मैदानी इलाकों में चले गए होते हैं उनको बैसाख संक्रांति तक तो निश्चित ही लौट आना होता है । वे अपनी अंगुलियों की पोटियों पर लौटने के दिन गिनना शुरू करते हैं और इससे पूर्व कि प्रतीक्षा के दिन गिनते-गिनते अंगुलियों के पोरे न घिस जाएं वे अपने-अपने परिवारों के मध्य सकुशल लौट गए होते हैं । परिवारों के मध्य सम्मिलन के पावन क्षणों को मनमोहक आनन्द बसोआ के रूप में बदल जाता है । बसोए के दिन सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहने जाते हैं, नाना प्रकार से अलंकरणों से अपने आप को सुसज्जित किया जाता है और फिर सामूहिक नृत्यों और गीतों की मदमाती झंकार सौन्दर्य मुग्ध पर्वतमालाओं की घाटियों में कौंद कर रह जाती है । प्रायः बसोआ के पावन पर्व पर गाए जाने वाले गीतों

और नृत्यों को घुरेही का नाम दिया जाता है। घुरेही चम्बा जनपद के प्रसिद्ध नृत्यों, चम्बयाली, चौराही तथा डंडारस नृत्यों में से एक है।

बसोआ के पावन पर्व पर-जब ग्राम बधुएं अपनी अपनी ससुराल से मायके पहुंचती हैं तो इस समय बसोआ का मुख्य भोज 'पिंदड़ी' बनाया जाता है और सारा परिवार बड़े प्रेम से अमुक भोज पदार्थ का सेवन करता है। विश्वसनीय है कि 'पिंदड़ी' नामक भोज्य पदार्थ के सेवन में हृदय-पित रोग नहीं होता। अतः पिंदड़ी भोज वर्ष भर के स्वास्थ्य का प्रतीक भी स्वीकार किया जाता है। यह पिंदी अथवा पिंदड़ी का भोज विधि विशेष से तैयार किया जाता है। पिंदड़ी कोदे अथवा कोदरे नामक अनाज से बनती है। बसोए के आने से कुछ दिनों पूर्व कोदरे के अनाज का आटा पिसवाया जाता है। दो तीन दिन तक पहले कोदे के आटे को पानी में डाल कर काढ़ा जाता है। पकने के पश्चात् आटे के बर्तन को चूल्हे पर से उतारा जाता है। काढ़े को परात या दूसरे बर्तन में जिसे यहां की जनभाषा में कुनाला कहते हैं (जो लकड़ी की बनी होती है) में उडेला जाता है। आटे को उडेलने के पश्चात काठ के कुनाले में कनक (गेहूं) का आटा निश्चित परिमाप के साथ घोलकर उसे जोर के साथ गूंथा जाता है। जब आटा गुंथकर तैयार हो जाता है तब गुंथे हुए आटे की पिन्नियां बनाई जाती हैं। इन गोल गोल पिन्नियों को टोकरी में ऐरे के पौधे के पत्तों के ऊपर रखकर हैं जब टोकरी पिन्नियों से भर जाती है तो टोकरी के ऊपर फिर से ऐरे की पत्तियां बिछा दी जाती हैं परन्तु ऊपर से ढांपने से पूर्व इन पिन्नियों के ऊपर छाछ की बौछार दी जाती है। बसोए वाले त्यौहार के दिन पिंदड़ियों को सबसे पहले पित्तरों को अर्पित किया जाता है। तत्पश्चात इन पिन्नियों को गुड़ से बने घोल 'गुड़ाणी' के मीठे पानी से खाया जाता है। माता-पिता, भाई-बहन तथा परिवार के अन्य सदस्य पिंदड़ी भोज का आनन्द उठाने के पश्चात घुरेही नृत्य की मस्ती में डूब जाते हैं। बसोए के पावन दिवस पर सारा सारा दिन तथा सारी-सारी रात घुरेही प्रस्तुत किया जाता है। ग्राम बधुएं एक बार तो ससुराल के सारे दुख को भूल जाती हैं।

बसोआ निकट आ पहुंचा है। ओस-पड़ोस की सभी ग्राम बधुएं अपने पीहर जाने की तैयारी में हैं परन्तु 'आया बसोआ' नामक लोकगीत की नायिका को पीहर से बसोए का सादा (निमन्त्रण) ही नहीं आया है। ससुराल में बैठी चिर प्रतीक्षारत नायिक निम्नलिखित गीत को गुनगुना रही है :—

आया बसोआ नेड़े, भेड़े, मेरे बापू जो सादा भेजे हो,
हो मेरे बापू जो सादा भेजे हो।
बापू तो तेरा कुड़िए वृद्ध स्याणा, हो आपू ईणां आप जाणां हो
आपू ईणां आपू जाणां हो॥

आया बसोआ माए पंजे सत्ते, मिजों भाऊये दा सादा नी आया हो
हो मिजों भाऊये दा सादा नी आया हो ।
बिस्सुता बसोया माए होई गेया माए, मिजो अम्मा दा सादा नी आया हो
हो मिजो अम्मा दा सादानी आया हो ॥
भाऊ ता तेरा कुड़िये निक्का याणा, बापू है वृद्ध स्याणा हो
हो आपू ईणां, आपू जाणा हो ।
पिंदड़ी ता पिंदड़ी भाऊआ आपु खाये, हो पिंदड़ी दे पट्ठेदेई भेजे हो
हो पिंदड़ी दे पट्ठे देई भेजे हो ।
गुड़ ता गुड़ भाउआ आपू खाए, गुड़े रा गड़ाणी देई भेजे हो
हो गुड़ें दा गड़ाणी देई भेजे हो
मरीवो जाणा भाऊवा भालैं-भालैं हो पिंदड़ी पुजाणा तू नी आया हो ।
हो पिंदड़ी पुजाणा तू नी आया हो ।
आया बसोआ नेड़े भेड़े, मेरे बापू जो सादा भेजे हो ।
हो मेरे बापू जो सादा भेजे हो

उपरोक्त गीत में नायिका अपने आमंत्रण के लिए अपने पिता, मां तथा भाई द्वारा मायके में बुलाने की अपेक्षा रखती है । पिता हैं कि वृद्ध हैं बिटिया को लेने नहीं आ सकते, मां अपनी घरेलु व्यस्तताओं में उलझी है और भाऊ (भाई) है कि अभी वहुत छोटा । बिरह जन्य नायिका अपने आप ही अपने मन को रिझाती हुई गीत में अपने छोटे भाई को सन्देश भेजते कामना करती है कि भैया पिंदड़ी तो तुम स्वयं खा लेना तथा जिन पत्तों में पिंदड़ी रखी होगी वह मुझे अवश्य भेज देना । बैसाखी को बने गुड़ को तुम स्वयं खा लेना तथा गुड़ का पानी 'गुड़ैणी' मुझे भेज देना । हे भाई तुम्हारी प्रतीक्षा में, मैं मृत प्राय: सी होती जा रही हूं एक तुम हो कि अभी तक मुझे बसोआ-उपहार मेरा मन भावन भोज्य पदार्थ पिंदड़ी ले कर नहीं पहुंचे ।

चम्बा जनपद का बसोआ खुशहाली का प्रतीक है और आगामी वर्ष के लिए खुशियां बिखेरता हुआ चला जाता है । यह दूसरी बात है कि अमुक लोकगीत की नायिका जैसी अन्य ग्राम बधुओं को बसोए का त्यौहार दुखान्त रहा हो । उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बसोआ वैसे तो हिमाचल प्रदेश के समस्त भागों में अपने अपने ढंग से अपनी अपनी अलग-अलग मान्यताओं के अनुसार मनाया जाता है परन्तु चम्बा जनपद के बसोए की मान्यता तथा इस का प्रारूप अपना अलग सांस्कृतिक परिवेश रखता है यह तो हमें स्वीकार करना ही होगा ।

13/1, बालूगंज शिमला-171005 (हि० प्र०)

बरसात के तीन त्यौहार

सुदर्शन डोगरा

वर्षा ऋतु का आगमन अषाढ़ से ही माना है। हिमाचली संस्कृति में विभिन्न क्षेत्रों अषाढ़ मास की सक्रान्ति को 'चीडनुए दी सगरांद' कहा जाता है। इस सक्रान्ति को पशुओं का त्यौहार माना गया है। पशुधन ग्रामीणों का मुख्य धन है इस लिए त्यौहारों में सर्व-प्रधान पशुओं का त्यौहार ही मनाया जाता है। चीडनु की सक्रान्ति को प्रत्येक घर में गेहूं के आटे के बने भटूरू तले जाते हैं और नई गेहूं से बनाये हुए निशास्ते का हलवा बनाया जाता है। दिन छिपते ही गांव के लोग अपने-अपने मुहल्लों में खुले स्थान पर एकत्रित होकर आग लगाते हैं। उस आग में पहले तो वे चावल, फूल, कुमकुम आदि से अग्नि देवता का पूजन करते हैं। फिर सूखे फलों की आहुति देते हैं तत्पश्चात पशुओं पर लगे "फिथ्थड तथा चीडन" नामक खून चूसने वाले कीड़ों को अग्नि में डाल देते हैं। लोक विश्वास है कि ऐसा करने से पशुओं के शरीर से चिपके विभिन्न कीट नष्ट हो जाते हैं। रात को ग्रामीण आग के पास खड़े होकर गाते बजाते हैं तथा जब आग शान्त हो जाती है तब लड़के आग को फांदते हैं। ग्रामीण लोग भटूरू और सीरे निशास्ते के हलवे का आपस में आदान-प्रदान करते हैं।

आषढ़ की समाप्ति पर सावन का महीना आरम्भ हो जाता है। वर्षाऋतु अपने यौवन में पहुंच जाती है इस मास को 'पींगा दा महीना' भी कहा जाता है। भारत के अन्य भागों की भांति ही यहां भी इस मास में झूले डाले जाते हैं। बच्चे, बूढ़े, स्त्री, पुरुष सभी झूला झूलने का आनन्द लेते हैं। झूला झूलते समय स्त्रियां विविध गीत गाकर वातावरण में रमणीयता उत्पन्न करती हैं। स्त्रियां हाथ-पावों में मेहंदी लगाती हैं। बरसात में लाल वस्त्र पहनने का प्रचलन भी प्रदेश में है।

सावन मास का मुख्य व्यंजन खीर, पतौड़े (अरबी के पत्तों के पतौड़, व्यंज्जन विशेष) हैं। लोग इस मास में अपनी बहन-बेटियों तथा प्रियजनों को बुला कर खीर-पतौड़ा खिलाते हैं तथा बांटते हैं। ख्वाजे (जल देवता) को भेंट चढ़ाने का प्रचलन भी प्रदेश में है।

भादों मास की सक्रांति से लेकर पूरा महीना लोग रात को रास्ते में दीपक रखते हैं । क्योंकि भादों मास की रात्रि अपेक्षाकृत अधिक अन्धेरी होती है । इस मास को काला महीना कहा जाता है । इसी लिए जब प्रदेश में बिजली नहीं आई थी पथिकों की सुविधा के लिए ऐसा किया जाता था । राखी, जन्माष्टमी, गूगा नौमी, दूज दर्शन, हरितालिका, नाग पंचमी, पूड़छट, सिह सत्तैं द्रुबडी अद्धै (दूब अष्टमी) इस मास के मुख्य त्यौहार हैं ।

रक्षाबन्धन के दिनों बहनें अपने भाइयों को राखी बांधती हैं। हिमाचल प्रदेश के जिला कांगड़ा में राखी को विशेष गृह-पूजन भी किया जाता है । राखी के दिन आटे की सेवियों की खीर तैयार की जाती है, मोली में रुई, गोटा और भुजपत्र बांधकर रखड़ियां तैयार की जाती हैं। जिन्हें "गड़ांरनू" कहा जाता है । घर की विभिन्न दीवारों जैसे, दरवाजों की दाईं ओर घर के सामने वाली दीवार पर, अनाज की पेड़ियों(अन्न रखने के लिए बनाई गई बांस की गुम्बदनुमा पेड़ियां) पर गऊशाला तथा तुलसी के लिए बनाए गए चबूतरे पर काले रंग की मिट्टी से लीपकर 6 इंच वर्ग इंच चकोर स्थान बनाया जाता है । उसपर सफेद रंग की मिट्टी से चित्रकारी की जाती है । जब वे सूख जाएं तब राखी बांधने से पहले फूल, दूब, अक्षत तथा कुमकुम से उनका पूजन करने के बाद खीर तथा गड़ारनू चिपकाए जाते हैं । तत्पश्चात बहनें भाइयों को राखी बांधती हैं । भाई इसके बदले में उन्हें वस्त्र अथवा रुपये देते हैं। सेवियों की खीर खाना इस दिन शुभ समझा जाता है ।

राखी के ठीक आठवें दिन जन्माष्टमी त्यौहार होता है। प्रदेश के विभिन्न भागों के लोग जन्माष्टमी का व्रत रखते हैं। रात्रि को विशेष मन्दिरों में भगवान कृष्ण के जन्म के उपलक्ष्य में भगवान के झूले डाले जाते हैं। लोग श्रद्धापूर्वक रात जागरण करते हैं। बड़े-बड़े-दूर से चलकर लोग विशेष स्थानों पर पहुंचकर विभिन्न विद्वानों के विचार सुनकर सत्संग का रसास्वादन करते हैं। ग्रामीण लोग भी कृष्ण जन्म अपने घरों में मना लेते हैं। कोई सम्पन्न व्यक्ति अपने घर में ठाकुर जी का झूला डालने का आयोजन कर लेते हैं। सभी ग्रामीण वहीं एकत्रित होकर रात को भजन कीर्तन कर रात्रि व्यतीत करते हैं ।

श्री कृष्ण जन्माष्टमी के दूसरे दिन नौमी को लड़कों का त्यौहार मनाया जाता है। घर के प्रत्येक पुरुष सदस्य के अलग-अलग पकवान निर्धारित किए हुए होते हैं। जैसे किसी एक के पूड़े, दूसरों की पराकड़ियां, तीसरे की मठियां तो चौथे के गुलगुले इत्यादि पकाए जाते हैं। प्रातःकाल पौ फटने से पहले घर का मुखिया खेतों से नौ प्रकार की बूटियां उखाड़कर लाता है । वह उन बूटियों को पटड़े पर रखकर आदर पूर्वक भीतर ले आता है। भीतर लाकर घर के मुखिया द्वारा उनका पूजन किया जाता है । तत्पश्चात् आयु क्रम के अनुसार अन्य बालकों से पूजन करवाया जाता है । सभी अपने नाम से पकवाए हुए पकवान में से 9-9 पूड़े, मठियां, पराकड़ियां आदि वहां चढ़ाते हैं । जब सब पूजा कर चुकते हैं तब जहां बूटियों पर पकवान

चढ़ाए जाते हैं उस स्थान को एक बड़े टोकरे से ढक देते हैं। दोपहर ढलने पर टोकरी उठाकर पकवान उठा कर सब में प्रसाद के रूप में बांट दिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त टोकरे भर-भर कर पकवान पकाए जाते हैं और गांव में बांट दिए जाते हैं। पुत्रवती स्त्रियां इस त्यौहार के अवसर पर अधिक व्यस्त तथा प्रसन्न दिखाई देती हैं।

इसी मास में शुक्ल पक्ष की द्वितीय (दूज) के चन्द्रमा के दर्शन करना वर्ष भर के लिए मंगलदायी समझा जाता है। लोग बादलों में छिपे चन्द्रमा को बड़ी श्रद्धापूर्वक निहारते हैं। उससे अगले दिन हरितालिका का व्रत होता है। हरितालिका को हरियाली भी कहा जाता है। यह व्रत सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला दुर्लभ व्रत है। इस व्रत का सम्बन्ध मां गौरी से है। जब पार्वती ने नागाधिराज हिमालय के यहां जन्म लिया तब नारद के वचनानुसार वह भगवान शंकर को वरण करने हेतु जंगलों में तपस्या करने चली गई। भगवान शंकर ने उनके तप और निष्ठा की परीक्षा लेने के लिए सप्त ऋषियों को भेजा, जब सप्तऋषी उनको परीक्षा लेकर वापिस कैलास लौट आए तब पार्वती जी को शंकर जी ने दर्शन दिये तथा उन्हें पत्नी रूप में स्वीकार करने को कहा। ऐसा विश्वास है कि जो स्त्रियां अथवा कन्याएं इस व्रत को करेंगी, भगवान शंकर की कृपा से उन्हें मनवांछित वर तथा सौभाग्य की प्राप्ति होगी।

स्त्रियां इस व्रत के दिन आग से सेका हुआ तथा लोहे से कटा हुआ पदार्थ नहीं खातीं। वधुओं और नवविवाहिता बेटियों को मायके अथवा ससुराल से फल, मेंहदी, चूड़ियां अथवा शृंगार की वस्तुएं भेजी जाती हैं। सौभाग्यवती स्त्रियां गौरी के नाम पर अपनी सास अथवा ननद-जेठानी आदि को मिठाई तथा प्रसाधन की वस्तुएं भेंट कर चरण छूती हैं। कुछ स्त्रियां इस व्रत का उद्यापन भी करती हैं। गोरखाली स्त्रियां इस दिन रात जागरण करती हैं।

हरितालिका के दूसरे दिन पत्थर चौथ होती है। लोग इस दिन चन्द्रमा को देखना अनिष्ट सूचक मानते हैं। ऐसा लोक विश्वास है कि चौथ का चन्द्रमा देखने वाले पर झूठा लांछन लगता है। लोग दिन छिपने से पहले ही अपने-अपने घरों के भीतर चले जाते हैं। परन्तु सभी तो ऐसा नहीं कर सकते। किसी किसी को तो चन्द्र दर्शन हो ही जाते हैं। वे लोग रात को लोगों की छतों पर पत्थर मारते हैं। लोग उन्हें गालियां देते हैं। यह भी विश्वास है कि लोगों की गालियां सुनने से चौथ के चन्द्र-दर्शन का शाप मिट जाता है।

अगले दिन पंचमी को—"नाग पंचमी" के नाम से पुकारा जाता है। हमारी संस्कृति में नाग सभ्यता भी एक मुख्य सभ्यता रही है। अत: इस दिन प्रत्येक ग्रामवासी बरसात में नागों (सांपों) के प्रकोप से बचने के लिए नाग पूजा करता है। नाग पंचमी से तीन दिन पहले से ही वे लोग उन दिनों में होने वाले

दूध, दही लस्सी तथा घी का प्रयोग करना छोड़ देते हैं। तीन दिनों का दूध, दही, लस्सी तथा मक्खन सभी कुछ अलग अलग करके रख दिया जाता है (ऐसे दुग्ध पदार्थों को जिन्हें खाया न जाए हेंसे पदार्थ कहा जाता है) नाग पंचमी के दिन स्त्रियां प्रत्येक दरवाजे की दहलीज पर आंगन में ड्योढ़ी में गौशाला की दीवारों पर तथा अन्न भंडारों में कई रंगों के सांप बनाती हैं फिर उन स्थानों पर दूध, दही लस्सी तथा घी इत्यादि चढ़ाकर पूजन करती हैं। तत्पश्चात एकत्रित दूध, दही इत्यादि को पास-पड़ोस में बांट देती हैं। लोक विश्वास है कि ऐसा करने से पशुओं की किसी प्रकार की हानि नहीं होती और न ही सर्पदंश का भय रहता है।

नाग पंचमी के अगले दिन 'पूड़ छठ' का त्यौहार होता है। यह बरसात के त्यौहारों में सौभाग्यवती स्त्रियों का सबसे प्रिय त्यौहार है। इस दिन सौभाग्यवती स्त्रियां दीवारों पर विविध रंगों से राजा रानी का चित्र बनाकर पूड़ों के साथ उसका पूजन करती हैं। यह व्रत गणेश का व्रत माना जाता है। व्रत का पूजन करने के पश्चात कुछ स्त्रियां भोजन कर लेती हैं और व्रत खोल देती हैं। कुछ एक ही समय भोजन करके पूरा दिन व्रत धारण करती हैं। इस पूजन के पीछे लोक कथा इस प्रकार है :—

कांगड़ा में एक राजा राज्य करता था। वह बहुत प्रतापी था। उसकी दो रानियां थीं। उनमें से छोटी रानी बहुत चालाक थी। वही राजा की चहेती रानी थी। छोटी रानी ने राजा को कहकर बड़ी रानी को घर से निकलवा दिया। बेचारी दूर गांव में एक झोंपड़ी बनाकर रहने लगी। राजा को दिल्ली से शाही फरमान आ गया और उसे युद्ध में जाना पड़ा।

युद्ध के दौरान ही 'पूड़छठ' का त्यौहार आ गया। छोटी रानी ने सोचा राजा तो यहां है नहीं, चलो फिर भी पूड़छठ का पूजन कर लेती हूं। उसने अनमने मन से पूड़छठ का पूजन किया तथा संज(पूड़े इत्यादि सामग्री) टोकरी के नीचे ढक कर रख दिए। किन्तु यह पूजन उसने भोजन इत्यादि कर चुकने के बाद दिखावा मात्र किया था। बेचारी दूसरी रानी सोचने लगी पूजन के लिए पूड़ा पकाना था किन्तु घर में तो कुछ भी नहीं है। वह दुखित होकर गाय के पास गई और उससे अपना दुखड़ा कह सुनाया। गाय ने गोबर कर दिया। रानी ने गोबर उठाया और उसी का रोट बनाकर पूड़छठ का पूजन किया और उस रोट को टोकरी के नीचे ढक दिया।

पूडछठ के दिन युद्ध जोरों पर था। राजा के सम्मुख वारों पर वार आ रहे थे किन्तु राजा यह देखकर आश्चर्यचकित हो गया कि एक गोबर की ढाल उसके सम्मुख आ जाती और शत्रु द्वारा छोड़ी गई गोलियां उसमें गढ़ जातीं। इसी प्रकार दिन भर युद्ध चलता रहा और राजा की रक्षा उस ढाल से होती रही। राजा ने शाम को देखा कि उस ढाल पर एक सौ आठ गोलियां लग चुकी हैं। उसी दिन युद्ध समाप्त हो गया। राजा को अपनी राजधानी पहुंचने में लगभग एक मास का समय लगा। रास्ते में आते-जाते राजा को 'पूड़छठ' के त्यौहार की याद आई। उसने रात को स्वप्न में देखा कि बड़ी रानी ने मौत से उसकी रक्षा की।

वह कई दिनों बाद अपनी नगरी में लौटा था। बार-बार उसके सामने युद्ध का दृश्य आ जाता। जब वह घर पहुंचा तो छोटी रानी ने उसका राजकीय सम्मान के साथ स्वागत किया। राजा ने रानी से पूड़छठ का पूड़ा मांगा परन्तु ज्योंही रानी ने पूडे के ऊपर से टोकरी उठाई तो कीड़ों से भरपूर पाया। अब राजा अपनी दूसरी रानी की झोंपठी में गया और उससे पूड़छठ का पूड़ा मांगा रानी ने सकुचा कर गोबर के रोट के ऊपर से टोकरी उठाई तब राजा और रानी दोनों ही चकित रह गए देखा कि गोबर के रोट के स्थान पर सोने की ढाल पड़ी है और उस पर युद्ध में चली एक सौ आठ गोलियां जड़ी हैं। राजा ने रानी से इसका कारण पूछा तो रानी ने अपनी सारी विवशता राजा को सुना दी। राजा को यह समझने में विलम्ब ना लगा कि वह पतिव्रता रानी के तप बल से ही बच पाया है। उसने रानी को अपना स्वप्न भी सुनाया। वह रानी को आदर-पर्वक घर ले गया और उसे अपनी पटरानी घोषित कर दिया। उस दिन के बाद रानी को विश्वास हो गया कि स्त्रियों द्वारा श्रद्धा पूर्वक इस व्रत का पूजन करने से पति पर आया संकट टल जाता है।

उसी दिन से इस त्यौहार का महत्व और भी बढ़ गया है। सवा सेर आटे का एक बड़ा पूड़ा बनाया जाता है। उसी के साथ छः अन्य पूड़े तथा एक सौ आठ गोलियां बना कर संज (व्रत पूजन के लिए प्रसाद) तैयार किया जाता है। पूजा में एक सौ आठ दाने चावल, एक सौ आठ दाने चने की दाल, एक सौ आठ दाने धनियां आठ सौ लोंग, आठ इलायचियां तथा आठ बादाम की गिरियां रख कर छठ (षष्टी), का छः प्रकार की पुड़ियों से पूजन किया जाता है। पूजा में एक सौ आठ फूल तथा दूब का प्रयोग किया जाता है। स्त्रियां नए वस्त्र पहन कर तथा नथ इत्यादि समस्त आभूषणों से युक्त होकर इस पूजन को करती है। पूजन कर चुकने के बाद संज को एक बांस की टोकरी के नीचे ढक देती हैं। जब सांयकाल उनके पति अपने काम से लोटते हैं। तब संज उठा कर उन्हें देती है। पति भी इसके बदले रुपये, आभूषण उन्हें यथाशक्ति भेंट करते हैं।

पूड़छठ के बाद की सप्तवीं को स्थानीय बोली में 'सीहं सतें' कहते हैं। इस दिन बहिन भाइयों का त्यौहार होता है। बहनें पहले डंडी सहित अखी के पत्ते पर शेर का चित्र बना कर उसका पूजन करती हैं। तत्पश्चात् अपने भाइयों को भैयादूज की भांति टीका लगाती हैं। सिंह सतै के विषय में लोक कथा इस प्रकार है :—

पुराने जमाने में जब पृथ्वी पर बनो की अधिकतमा थी, उस समय एक घर में बहन-भाई अकेले रहते थे। समीप वर्ती जंगल में एक शेर रहता था वह प्रतिदिन पास पड़ोस के घरों में से किसी एक को मार कर खा जाता था। एक दिन बहन ने देखा कि शेर उसके घर की ओर आ रहा है। उसने कचालू (अरबी) के खेत में अपने भाई को छुपा दिया। बड़े-बड़े पतों में उसका भाई इस प्रकार छुप गया कि शेर को दिखाई भी न दे जब शेर उसके दरवाजे पर दहाड़ने लगा तो वह निर्भीकता पूर्वक उसके सामने आई और उसने शेर के

माथे पर तिलक लगाकर उसे अपना भाई बना लिया। शेर ने उससे कहा कि तुमने मुझे अपना भाई तो बना लिया है किन्तु यह बतलाओ कि तुमने अपने भाई को छुपाया कहां है। उसने शेर से वचन लिया कि वह उसके भाई को नहीं मारेगा, तब उसने कचालू के खेत से आवाज लगा कर अपने भाई को बुलाया। भाई बहन की आवाज सुनकर कांपता हुआ उन दोनों के सम्मुख आकर खड़ा हो गया। शेर ने उसे निर्भय करते हुए कहा कि तुम डरो मत। आज से हम तुम भाई-भाई हैं अब बहन ने शेर से प्रार्थना की कि वह वस्ती से दूर चला जाए और नरसंहार को त्याग दे। शेर ने बहन की बात को स्वीकार कर लिया। परन्तु चलते समय बहन से पूछा कि क्या यह सम्बन्ध इसी जन्म का होगा या जन्म-जन्मों तक चलेगा। बहन ने उत्तर दिया, नहीं यह सम्बन्ध तब तक रहेगा जब तक इस क्षेत्र की मानव संस्कृति रहेगी। बहन ने शेर से कहा कि इस क्षेत्र में आज के बाद भादों मास के शुक्ल पक्ष की सप्तवीं को प्रत्येक बहन अरबी के पत्ते तथा शेर का पूजन किया करेगी क्योंकि अरबी के पत्तों के नीचे छुपा कर मेरे भाई के प्राण बचाने का प्रयत्न किया है और शेर ने उसे भाई मान कर प्राणदान दिया है। शेर ने प्रसन्न होकर कहा "इसी बात पर मैं भी वरदान देता हूं कि जो बहन इस दिन ऐसा करेगी उसे कभी वियोग न होगा।" इतना कहकर शेर ने वन का रास्ता पकड़ा। कहा जाता है कि जब तक शेर जीवित रहा उस दिन बहन से टीका करवाने आता रहा। उसी समय से भाई-बहन के त्यौहार का नाम सिह सत्तैं पड़ा। उसी दिन की याद में बहनें अरबी के पत्ते पर शेर का चित्र बना कर उस का पूजन करती और अपने भाईयों को टीका लगाती हैं।

सिह सत्तैं के बाद दूसरे दिन आने वाली अष्टमी को दुबड़ी अठ्ठैं कहते हैं। इस दिन जिला चम्बा में स्थित मणी महेश की पवित्र झील में स्नान करने का बहुत महातम समझा जाता है। इसके अतिरिक्त लोग समीप वर्ती पवित्र तीर्थों, जलाश्यों, नदियों, झीलों व तालाबों में स्नान कर पुन्य के भागी बनते हैं।

भादों मास की समाप्ति पर असौज मास की संक्रान्ति को सैर की संक्रान्ति कहा जाता है। सैर किसानों का बहुत बड़ा त्यौहार है। बरसात की समाप्ति पर ही सैर का त्यौहार आता है तथा लोग यह अनुभव करते हैं कि वे ईश्वर की कृपा से बरसात में होने वाले दैनिक प्रकोपों से बच निकले हैं। प्रायः सैर के विषय में कहा जाता है :—

बरसाती लंघ.गा, सैह् संचोलू खांघा।

अर्थात जो व्यक्ति बरसात के प्रकोपों जैसे सांप, बाढ़, हैजा आदि रोगों से बच निकलेगा वही सैर के संचोलू (फूलदार सांचों से बनाई गई मीठी रोटियां) खाएगा। सैर की संक्रान्ति को ब्रह्ममहूर्त में नाई एक टोकरी में दीपक जला कर और उसमें ताजी फसल का अखरोट, मक्की, घमीरू (फल विशेष) कंकड़ी इत्यादि रख कर तथा उसे फूलों से सजा कर अपने यजमानों के प्रत्येक घर में जाता है। यजमान भी श्रद्धा पूर्वक सैर की

बंदना करते हैं। रक्षा बंधन पर डाली गई राखियों को उस पर चढ़ाते हैं तथा नाई को मिठाई तथा पैसे देते हैं।

दिन को प्रत्येक घर में उड़द की दाल के भल्ले भटूरू, पतरोड़े तथा संचोलू बनाए जाते हैं। सभी लोग गांव में एक-दूसरे को भोजन के लिए आमन्त्रित करते हैं। गांव की बेटियों (धियाणों) को बुलाकर उन्हें भोजन करवाया जाता है। गांव की अन्य जातियों के श्रमिक वर्ग तथा निर्धन वर्ग के लोग मौसमी सब्जी, अखरोट तथा मक्की के भुट्टे आदि ले जाकर जमींदारों तथा अपने मालिकों को उपहार देते हैं। इस उपहार को 'डाली' कहा जाता है। इसके बदले में सम्पन्न व्यक्ति उन्हें रुपये-पैसे, पकवान तथा वस्त्र इत्यादि देकर प्रसन्न करते हैं।

इसी प्रकार त्यौहारों भरी बरसात भूमि को हरा भरा बना कर विश्व में नव जीवन का संचार कर विदाई लेती है और इसी के साथ शरद ऋतु का प्रवेश हो जाता है।

वरिष्ठ अनुसन्धान सहायक
भाषा एवं संस्कृति विभाग हि० प्र०
शिमला-171001

लोक नृत्यों के प्रकार

सुरजीत सिंह पटियाल

नृत्य कला उतनी ही प्राचीन है जितनी मानव जाति। जब से मानव ने अपने भावों को विभिन्न अंगों द्वारा प्रकट करने का प्रयास किया, तभी से नृत्य कला का सूत्रपात हुआ।

निरमण्ड क्षेत्र में निम्नलिखित नृत्यों के प्रकार प्रचलित हैं :—

छाड़ी : इस नृत्य के साथ "छाड़ी" गीत गाये जाते हैं। इन्हीं गीतों के आधार पर इस नृत्य का नाम छाड़ी नृत्य पड़ा है। छाड़ी नृत्य को केवल पुरुष वर्ग ही करता है। इस नृत्य के कोई विशेष नियम नहीं होते। इस नृत्य में प्रत्येक नर्तक ऊपर को हाथ करके नाचता है। हाथों की मुद्राओं के प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के अलग- अलग हो सकते हैं। हाथों की मुद्राओं के साथ-साथ नर्तक ताल के साथ पैर आगे पीछे चलाता रहता है और ताल की थाप के साथ घटनों को बार बार झुकाता रहता है।

नृत्य करते-करते नर्तक धीरे-धीरे पैरों के बल पर नीचे बैठ जाता है और फिर आहिस्ता-आहिस्ता खड़ा उठता है। कई बार नाचते-नाचते गोल घूमा है। कभी एक हाथ को कमर पर और दूसरे हाथ को माथे पर रखता है। इस नृत्य को खुला नृत्य कहते हैं अर्थात यह नृत्य खुले हाथों से किया जाता है। इस नृत्य में "ढँकुली" बैंशी (बांसुरी) और चक्का (मंजीरा) वाद्यों का प्रयोग होता है। दो ढँकुली वादक होते हैं, दो बांसुरी वादक, दोगायक और एक चक्का (मजीरा) वादक। पहले गायक छाड़ी गीत गाते हैं, फिर बांसुरी वादक उसी गीत को

1. संगीत बोध पृष्ट 166. (डा० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजये)

बांसुरी पर बजाते हैं। इस प्रकार का ताल मेल चला रहता है। नृत्य पहले धीमी गति का होता है धीरे-धीरे नृत्य की गति बढ़ती जाती है। नृत्य धीरे-धीरे हो या गति युक्त, मुद्राओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आता। छाड़ी नृत्य अधिकतर "नाटों"[1] में किया जाता है। किसी शुभ अवसर पर या खुशी वाले दिन

1. नोट :—जैसे यदि कोई व्यक्ति अगर नाट् का आयोजन करना चाहता है तो वह गांव के "छाड़ी" गायक व वादकों को आमन्त्रित करता है और घर के आंगन में नाच गाने का आयोजन होता है। इसी परम्परा को यहां की भाषा में "नाट" कहते हैं।

"नाट" का आयोजन किया जाता है। छाड़ी गीतों को केवल तथा कथित हरिजन लोग ही गाते हैं, लेकिन छाड़ी नृत्य को स्वर्ण लोग भी नाचते हैं।

बांठड़ा : बांठड़ा नृत्य छाड़ी नृत्य से पूर्णत: मिलता है, अन्तर है तो केवल वाद्य यत्रों का। बाठड़ा नृत्य में ढोल, नगारा, भांणा, काहवा, सनै और ढाकुड़ी आदि वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। इस नृत्य को अधिकतर रात के निरशु मेले (लोक नाट्य) के समय किया जाता है। उस समय बांठड़े ताल के सात प्रकार बजाये जाते हैं। कभी ढाकुड़ी, भांणा बजाये जाते हैं तो कभी ढोल नगारा और कभी एक ही वादक दो लकड़ियों से ढोल नगारा दोनों वाद्यों को एक साथ बजाते हैं। सनै (शहनाई) हर प्रकार के बाजे के साथ बजती रहती है।

बांठड़ा नृत्य विवाह के समय भी किया जाता है जब बारात जाती है तो उस समय बीच-बीच में बांठड़ा नृत्य किया जाता है। बांठड़ा भी खुले हाथों का नृत्य है। इस नृत्य की मुद्राएं भी लगभग वहीं हैं जो छाड़ी नृत्य की। आमतौर पर इस नृत्य को पुरुष करते हैं, परन्तु कुछ विशेष अवसरों पर नारियां भी बांठड़ा नृत्य करती हैं जिसकी मुद्राएं पुरुष के बांठड़ा नृत्य से बिल्कुल भिन्न होती हैं। नारियों के बांठड़े का वर्णन सोढबुड़ा और बीमा नृत्य के अन्तर्गत आयेगा जिसका वर्णन आगे किया जायेगा। बांठड़ा नृत्य में पहले ऐसी (शहनाई वादक) सनै बजाता है और बाद में नर्तक लोग ही नाचते-नाचते गीत गाते हैं।

नाटी : नाटी निरमण्ड क्षेत्र का बहुत ही लोक प्रिय नृत्य है। जहां कहीं मेला होता है वहां नाटी देखने को अवश्य मिलती है बल्कि यह कहना होगा कि निरमन्ड क्षेत्र के मेलों का मुख्य आकर्षण ही नाटी नृत्य है। नाटी नृत्य में नर्तक लोग एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर एक माला सी बनाते हैं। नाटी में आगे नाचने वाले को "धूरिया" कहा जाता है। नाटी नाचने के कुछ नियम भी होते हैं। नाटी बाएं से दाएं की ओर आगे बढ़ती जाती है और एक गोल दायरा या अर्धगोल दायरे का रूप धारण कर लेती है। नाटी में पहले बाएं पैर से दो कदम लिए जाते हैं फिर दाएं पैर से एक कदम। इस प्रकार नाच चलता रहता है और नर्तक गोल दायरे में नाचते-नाचते चक्कर काटते रहते हैं। नाटी में ढोल, नगारा, दराग, ढाकुड़ी, भाणां, काहवा, करनाल और सनै आदि वाद्य यत्रों का प्रयोग किया जाता है। पहले जब नाटी शुरू होती है तो ढाकुड़ी भांणा, सनै और काहवा वाद्य बजाये जाते हैं। कुछ समय पश्चात् बड़ा बाजा (ढोल नगारा) बजना शुरू हो जाता है। पहले नाटी की गति धीमी होती है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है नाटी की गति तेज होती जाती है। कई बार बीच में नाचते-नाचते उल्टे कदम भी लेते हैं इसे उल्टी नाटी कहते हैं। नाटी नाचते समय यह ध्यान रखने योग्य बात होती है कि जैसे पांव धूरिया (मुखिया) के चल रहे हैं बाकि नर्तकों के पांव भी उसी तरह चलने चाहिए। जब सब नर्तकों के पांव एक साथ आगे को उठते हैं और एक साथ पीछे को जाते हैं तो दृश्य देखते ही बनता है। वादक लोग नाटी के साथ-साथ ही घूमते रहते हैं। ऐसी (शहनाई वादक) नाटी में

नाचने वाले लोगों के पास बारी-बारी से सनै बजाता है और पैसे इकठ्ठे करता है। नाटी में नाचने वाले लोग खुद ही गाना गाते हैं। पहले "सनै" (शहनाई)बजती है और बाद में नर्तक गाना गाते हैं। स्थानीय पण्डित व ठाकुरों की नाटी में केवल मर्द लोग ही नाचते हैं परन्तु राहू (जाति) और हरिजनों की नाटी में औरतें भी साथ नाचती हैं। औरतों की नाटी का गोल दायरा या अर्धगोल दायरा अन्दर होता है और पुरुषों का उनसे बाहर।

आज कल तो कई प्रकार की नाटियों को नाचने का प्रचलन है, जिनमें हाथ व पैरों की विभिन्न मुद्राएं बनानी पड़ती हैं, परन्तु इस प्रकार की नाटियां आम नहीं नाची जातीं। इन नाटियों का प्रयोग नाच-प्रतियोगिता में भाग लेने हेतु किया जाता है। इन नाटियों में नाचने वाले नर्तकों के पास एक विशेष प्रकार की वेशभूषा होती है जो इस प्रकार है—काली टोपी ऊपर से मनाल की कलगी, ऊन का चूड़ीदार पाजामा और ऊन का ही चोड़ा। इस प्रकार की नाटियों में प्राकृतिक पक्ष कम और बनावटीपन ज्यादा होता है। इसलिए पहले वाली नाटी जिसका वर्णन शुरू में किया गया है इस क्षेत्र में अधिक लोक प्रिय है क्योंकि इसमें बनावटीपन नहीं है।

सोढ बुढा या बीमा नृत्य (औरतों का बांठड़ा) इस नृत्य को केवल स्त्रियां करती हैं और वो भी किसी विशेष अवसर पर जैसे घर में जब चूड़ाकर्म या विवाह जैसे संस्कारों का सम्पादन होता है तो घर के मुख्य द्वार पर स्त्रियां इस नृत्य को करती हैं। 'विधि माता' की पूजा के उपरान्त भी इस नृत्य का आयोजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त सोढबुढा (एक त्यौहार का नाम) में भी इस नृत्य को किया जाता है। माघ महीने के प्रथम सप्ताह में गांव की लड़कितां किसी बड़े से आंगन में इक्ट्ठी हो जाती हैं। फिर छोटी-छोटी लड़कियों को दुल्हा-दुल्हन बना कर उनकी शादी रचाती हैं। विवाह समाप्त होने के पश्चात् बाठड़ा नृत्य शुरू होता है।

इस त्यौहार को यहां की स्थानीय बोली में 'सोढबुढा' कहते हैं। गांव के प्रत्येक मुहल्ले में इस प्रकार के त्यौहार का आयोजन किया जाता है। इस त्यौहार को आयोजित करने का समय सांय पांच बजे के पश्चात् का होता है। यह त्यौहार लगातार सात दिनों में मनाया जाता है। इस नृत्य में लड़कियां खुले हाथों से नहीं नाचती वरन् इस नृत्य की कुछ विशेष मुद्राएं होती हैं। कभी लड़कियां अपने हाथों को कमर पर रख कर नाचती हैं, कभी हाथों को बिल्कुल सीधा (सावधान की स्थिति में जैसे हाथ रहते हैं) रख कर नाचती हैं, कभी हाथों की हथेलियों को नमस्ते करते हुए अपने सीने के साथ लगा देती हैं तो कभी हथेलियों के बाहरी भाग को आपस में नीचे की ओर जोड़ कर पेट के साथ लगा देती हैं। कभी दोनों हाथों की अंगुलियों का आपस में स्पर्श करके विभिन्न आकृतियां बनाकर नाचती हैं। बड़ी औरतें अधिकतर अपने सिर पर चुन्नी रख

कर नाचती हैं । वे चुन्नी का छोटा-सा पल्लू दोनों हाथों से पकड़ती हैं और हाथों को ऊपर नीचे करके नाच करती है । छोटी लड़कियां चुन्नी के स्थान पर अपने कमीज़ के पल्लू को ही प्रयोग में लाती है । ताल की थाप के साथ नर्तकियों के पैर भी झुकते रहते हैं । इस नृत्य में छोटे व बड़े दोनों प्रकार के वाद्य यन्त्र प्रयोग में लाए जाते हैं।

नाटारम्भ—नाटारम्भ नृत्य के साथ भक्तिरस के गीत गाये जाते हैं। इस नृत्य का सम्बन्ध भक्ति से है । जेठ की संक्रान्ति के दिन पुरुष, माता अम्बिका के आंगन में इस नृत्य को नाचते हैं । इसके अतिरिक्त अन्य शुभ अवसरों पर भी पूरी-पूरी रात में यह नृत्य किया जाता है । इस नृत्य में गाये जाने वाले गीतों को 'ब्रह्मभक्ति' के गीत कहते हैं । नाटारम्भ नृत्य की मुद्राएं छाड़ी और बांठड़ा नृत्य जैसी ही होती हैं अन्तर केवल गीतों और वाद्य यन्त्रों का है । इस नृत्य के साथ ढोलक और चक्का (मंजीरा) वाद्य यन्त्रों की संगत की जाती है ।

संगीत विभाग,
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला-5

भरमौर क्षेत्र के देवी-देवता

अमरसिंह रणपतिया

भरमौर हिमाचल प्रदेश के कठिनतम क्षेत्रों में से एक है। अब जब यातायात के साधन सुलभ हो गये हैं तब भी कठिन क्षेत्र है। उस समय जब यातायात सुलभ न था तो लोग नदी नालों को लांघते हुए ऊंची पर्वत-मालाओं को पैदल तय कर कहीं एक ओर चम्बा और दूसरी ओर कांगड़ा के मैदारी क्षेत्रों में अपनी भेड़ बकरियों को लेकर पहुंचते थे। जब कभी कोई व्यक्ति बीमार पड़ जाता था तो देवी-देवता के सिवाय कोई चारा न था। देवी-देवताओं पर पूर्ण आस्था होती थी। विभिन्न श्रेणियों और वर्गों के देवता थे। उनकी मान्यता अपने-अपने ढंग से होती थी। इस लेख में यहां के देवी-देवताओं का परिचय मात्र दिया जा रहा है। ये देवता इस प्रकार हैं :—

शिव—भरमौर के लोग शिव को प्रधानता देते हैं इसीलिए भरमौर को शिवभूमि कहकर पुकारते हैं। शिव को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है जैसे—शिव, शंभु, शंकर, धूड़ू, त्रिलोचन, कैलाशवासी, मनिमहेश, वटुक महादेव, संकलीश, पशुपति इत्यादि शिव के कई स्थानों पर मन्दिर हैं जिनका ब्यौरा इस प्रकार है :—

कैलाशवासी शिव—भरमौर के पूर्व में एक ऊंचा पर्वत है। इस पर्वत को कैलाश (स्थानीय बोली में 'कलास') पर्वत के नाम से जाना जाता है। लोक-विश्वास है कि शिवरात्रि को कैलाश पर्वत पर शिव आ जाते हैं तथा कैलाश यात्रा (डलन्होण-स्थानीय बोली में) या मनिमहेशन्होण भी कहते हैं, के बाद पाताल लोक में चले जाते हैं। मनिमहेश मेला या मणिमहेश यात्रा हर वर्ष भाद्रपद या असूज मास में राधाष्टमी को होती है। यह मेला कैलाशपर्वत के दामन में स्थित मनिमहेश झील पर लगता है। झील के किनारे शिवजी की पत्थर और संग-मरमर की पिंडी है। अब संगमरमर की त्रिमूर्ति की भी स्थापना की गई है। इस मेले के दिन ही स्थानीय लोग इस पिंडी पर गंगाजल ढालते हैं। रात को जागरण के बाद प्रात: झील (डल) में स्नान करते हैं। यहां यात्री कांगड़ा, भदरवाह तथा उत्तरी भारत के कई स्थानों से आते हैं। एक मेला जन्माष्टमी को भी लगता है। लेकिन लोगों की अधिक संख्या राधाष्टमी को ही होती है। जब कभी यह मेला जल्दी आए तो मौसम अच्छा होने के कारण लोगों की संख्या एक लाख तक पहुंच जाती है।

मनिमहेश मन्दिर भरमौर—भरमौर में चौरासी के स्थान पर मनिमहेश का शिखर शैली का मन्दिर है जिसमें एक विशाल शिव लिंग है। यह मन्दिर ऊंचे चबूतरे पर खड़ा है। विद्वानों ने इसे भरमौर (उस समय ब्रह्मपुर) के राजा मेरुवर्मन् के समय का माना है। मेरुवर्मन् (780 ई०) ने भरमौर में अन्य मन्दिरों और मूर्तियों की भी स्थापना की थी। मनीमहेश मन्दिर के प्रवेश पर एक नन्दी की भव्य कांस्य मूर्ति है जिसके पांव पर कुटिल लिपि में खुदा शिलालेख इसका प्रमाण है। मनिमहेश यात्री यात्रा पर जाने से पहले श्रद्धालु इस मन्दिर में अपनी श्रद्धा की भेंट चढ़ाते हैं फिर यात्रा आरम्भ करते हैं। अब भी स्थानीय लोग इस मन्दिर में आकर शिवजी का पूजन करते हैं।

हड़सर का शिव मन्दिर—भरमौर से मनिमहेश झील की ओर आठ मील के फासले पर हड़सर गांव है। यहां भी शिवजी का मन्दिर और मूर्ति है। मन्दिर छोटा-सा साधारण पहाड़ी शैली का है। मन्दिर की स्थापना काफी समय पहले की होगी परन्तु मूर्ति उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य काल की है। इसे चम्बा के राजा ने मन्दिर में स्थापित किया। श्रद्धालु मनिमहेश यात्री रात को यहां ठहरते हैं तथा मन्दिर में पूजन करते हैं। हड़सर के स्थानीय ब्राह्मण इसके पुजारी हैं।

खड़ामुख शिव मन्दिर—इस मन्दिर का निर्माण प्रसिद्ध समाजसेवी और धर्मात्मा अध्यापिका स्व० श्रीमति पार्वतीदेवी ने किया था। इस मन्दिर की काफी मान्यता थी। परन्तु अब मोटर सड़क बनने के कारण सड़क से एक ओर अलग-थलग पड़ गया है अतः मान्यता में कमी आना स्वभाविक है।

शिव मन्दिर छतराड़ी—शक्तिदेवी के मन्दिर के पास ही एक छोटा-सा पहाड़ी शैली का मन्दिर है है। जिसमें झांके तो एक विशाल पत्थर पर शिव और पार्वती की भव्य और सुन्दर कलात्मक मूर्ति है। इसे देखकर कलापारखी मन्त्रमुग्ध हो जाता है। शिवजी तांडव-नृत्य मुद्रा में हैं जबकि पार्वती उनके साथ खड़ी है। साथ ही शक्तिदेवी का मन्दिर है। यहां शक्ति की अत्यधिक मान्यता है अतः शिव मन्दिर में कदापि ही कोई जाता होगा।

बटुक महादेव छतराड़ी—छतराड़ी की शक्ति देवी के मन्दिर में बटुक-महादेव की मूर्ति है। स्थानीय मेले के आरंभ होने पर इस की छतराड़ी मन्दिर में रथ यात्रा निकाली जाती है। इस को पालकी में बिठाकर मन्दिर की परिक्रमा कराई जाती है।

लोथल का शिव मन्दिर—बस्सु परगना में पहाड़ी शैली का एक छोटा-सा मन्दिर है। मन्दिर में शिव-लिंग स्थापित है। मन्दिर के बाहर एक बहुत बड़ा नन्दीबैल है। स्थानीय लोग मन्दिर में शिवजी का पूजन

करते हैं। कभी-कभी रात को जागरता भी करते हैं। लोथल गांव चम्बा शहर से भरमौर की ओर 27-28 कि० मी० के फासले पर रावी नदी के बांयी ओर स्थित है। यहां गद्दी, राठी, ब्राह्मण और हरिजन लोग निवास करते हैं। नई फसल का पूजन मन्दिर में किया जाता है।

शिव मन्दिर चूड़ी—बस्सु परगने के गांव चूड़ी में छोटा सा शिव मन्दिर है। चूड़ी गांव चम्बा से भरमौर की ओर 26 कि० मी० के फासले पर स्थित है।

त्रिलोचन महादेव मन्दिर—त्रिलोचन महादेव का मन्दिर भड़ूआ नामक गांव में स्थित है। यह गांव चम्बा से भरमौर की ओर रावी नदी की दहिनी ओर नदी के किनारे स्थित है। चम्बा से यह स्थान 30 कि० मी० की दूरी पर है। चम्बा से 26 कि० मी० की दूरी बस द्वारा की जाती है। शेष दूरी पैदल तय की जाती है।

मन्दिर छोटा-सा पहाड़ी शैली का है। जिला चम्बा में इसकी अथाह मान्यता है। मनीमहेश न्होण वाले दिन यहां भी एक मेले का आयोजन होता है जिसे त्रिलोचन महादेव न्होण कहा जाता है। यह मेला रात को आयोजित किया जाता है। प्रात: ही लोग रावी नदी में स्नान कर अपनी श्रद्धा के फूल शिवजी के मन्दिर में चढ़ाते हैं। स्थानीय जनता नई फसल को इस मन्दिर में चढ़ाती है तत्पश्चात् नई फसल का उपयोग किया जाता है।

इस मन्दिर की स्थापना के विषय में लोगों में प्रचलित जन्-श्रुति के अनुसार यह कथा प्रसिद्ध है कि भरमौर के गांव सचूं में एक बुढ़िया रहती थी। उसके लड़के का नाम त्रिलोचन था। बुढ़िया शिव भक्त थी। एक दिन शिवजी महाराज ने गद्दी का वेष धारण किया तथा बुढ़िया के यहां गए। उस गद्दी-पाहल (चरवाह) को देख बुढ़िया ने उसके आने का कारण पूछा। पाहल ने बुढ़िया से अपनी भेड़ों के लिए नमक मांगा। बुढ़िया ने नमक देने से इनकार कर दिया। इस पर उस गद्दी-पाहल ने बुढ़िया को अपना भंडार खोलने के लिए कहा। बुढ़िया ने जब भंडार खोला तो वहां अथाह नमक का भंडार देखकर चकित रह गई। अब वह बुढ़िया समझ गई कि वह तो कोई चमत्कारी पुरुष था। उसने एक बोझा नमक का भरा और अपने बेटे त्रिलोचन को नमक छोड़ आने के लिए कहा। त्रिलोचन पाहल के पीछे-पीछे चलता रहा। कुछ दिन सफर में ही बीत गए। वे चलते-चलते मनिमहेश झील (डल) पर पहुंचे। वहां पाहल अंतर्धान हो गया। त्रिलोचन ने अंदाज़ा लगाया कि हो न हो पाहल ने झील में छलांग लगा दी है अत: उसने भी झील में छलांग लगा दी। अब वह क्या देखता है कि एक सुन्दर स्थान है जहां भव्य महल हैं। असंख्य सेवक वहां कार्यरत् हैं। पाहल (शिवजी) ने उसे भी कपड़े सीने का कार्य सौंपा। सेवा-सुश्रा में उसे यहां काफी समय बीत गया। अब उसने

घर लौटने की इच्छा व्यक्त की । शिवजी ने उसे बैग में कपड़े की कतरन दी और उसे आंखें बंद करने के लिए कहा तथा एक धक्का दिया तथा भेद न खोलने के लिए कहा । अब वहां अपने गांव पहुंच गया तथा ऊंचे टीले पर बैठकर बांसुरी बजाने लगा ।

उधर उसके घर में उसे मरा समझते-समझते आज चौथा वर्ष बीत गया था अतः चौवर्षी संस्कार किया जा रहा था । बांसुरी की तान सुन उसकी मां बाहर आ गई । वह संदेह में पड़ गई । सोचा कि बांसुरी तो त्रिलोचन की ही है । त्रिलोचन अब ब्रह्माणी देवी के मन्दिर में पहुंचा तो क्या देखता है कि एक बुढ़िया टूटे फूटे चीथड़े पहने थी । उसे दया आई और सारी कुतरन उस बुढ़िया को दी । संयोगवश एक कुतरन बैग में रह गई ।

वह घर पहुंचा । मां के गले लगा । रात को जब उसकी पत्नी ने बैग टटोला तो सोने की मोहर मिली । वह बहुत पछताया और सारी कहानी अपनी पत्नी को सुना दी । अब वह पागल हो गया और घर से निकल पड़ा । लाहल नामक गांव में उसे प्यास लगी । वहां पानी नहीं था अतः उसने त्रिशूल को ज़मीन पर पांच बार मारा फलतः पांच श्रोत पानी के बहने लगे । गांव वालों को पानी उपलब्ध हुआ ।

उसने पागलपन में आकर नदी में छलांग लगा दी । उसका मृत शरीर वर्तमान भड़ुआ गांव के पास किनारे पर लगा ।

गांव के एक बूढ़े ब्राह्मण को स्वप्न हुआ कि वह शिवजी का 'चेला' है अत: उसका शरीर उठाकर जला दिया जाय । उस ब्राह्मण ने इस बात की अवहेलना की अत: गांव में महामारी फैल गई । पशु मरने लगे । अब ब्राह्मण को उस स्वप्न की ओर ध्यान गया । वह नदी के किनारे उस स्थान पर गया तो क्या देखता है कि वहां तो शिवजी की पिंडी पड़ी है । वह उस पिंडी को उठाकर ले आया तथा स्वप्न के अनुसार नदी के किनारे मन्दिर में इसकी स्थापना की गई । उसी समय से ये मन्दिर वर्तमान है । इसका पुजारी स्थानीय ब्राह्मण है ।

ऐतिहासिक शिवपुरी गूं—गूं भी त्रिलोचन महादेव के पास ही है । यहां पुराने शिव लिंग और मन्दिर के खंडहरात हैं । शिवलिंग के पांव के पत्थर पर एक शिलालेख है जो कुटिल लिपि में है । इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मपुत्र के राजा मेरुवर्मन के समय यहां एक सामंत था जिसका नाम अषाढ़ देव था । उसने मेरुवर्मन् के सम्मान में वहां शिवपुरी की स्थापना कर षंगलीश भगवान् शिव के मन्दिर की स्थापना की । आज भी इस स्थान पर असंख्य शिवलिंग हैं । पुराने मन्दिर के खंडहरात हैं ।

कहा जाता है कि चम्बा से कोई राजा सदा यहां पूजन करने आता था। वह पालकी में चढ़कर पूजनार्थ आता था। लोग (बेगारू) रोज पालकी उठाते-उठाते तंग हो गए। एक दिन उन्होंने षड्यंत्रवश पालकी को सताहण नामक ढांक से नीचे गिरा दिया लेकिन राजा चमत्कारी ढंग से किसी झाड़ी में फंस गया और बच गया। तब से उसने पालकी में रोजाना आना बंद किया। जनश्रुति है कि यहां एक सौ एक लिंग थे। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं क्योंकि अब भी पर्याप्त संख्या में वहां लिंग पड़े हैं। कुछ ठीक दशा में स्थित हैं और कुछ नष्टप्राय इधर-उधर पड़े मिलते हैं।

पुराने मन्दिर की शिव मूर्ति किरीट धारण किए है। मूर्ति दो पशुओं पर सवार है। एक पशु शेर के समान लगता है और दूसरा घोड़े जैसा लगता है। मूर्ति का अग्रभाग खंडित है। ऐसा लगता है कि यह पशुपति शिव श्रेणी से सम्बन्धित है। मूर्ति निर्माता ने पौराणिक कथा को आधार लिया है। यह मूर्ति आजकल 'गूं' के ही प्रीणा गांव के पनिहार पर एक छोटे मन्दिर में स्थापित की है। सात वैशाख को प्रीणा में और नौ वैशाख को शिवपुरी जिसे अब पड़ेखण कहते हैं मेला लगता है।

त्रैला का शिव मन्दिर—गूं में ही त्रैला (तरैला) नामक सुन्दर स्थल पर शिव जी का छोटा-सा मन्दिर है जिसमें शिवलिंग की श्री फिड़ू नामक चेले ने स्थापना की है। यहां हर वर्ष 15 वैशाख को मेला आयोजित किया जाता है।

विष्णु भगवान—शिव के साथ-साथ विष्णु भगवान् की मान्यता भी भरमौर क्षेत्र में प्रचलित है। विष्णु भगवान के विभिन्न स्थानों पर मन्दिर हैं। भरमौर में नृसिंह भगवान का मन्दिर है जिसमें भव्य मानवाकार मूर्ति स्थित है। नृसिंह भगवान विष्णु के अवतार माने जाते हैं। मूर्ति पौराणिक कथा के आधार पर निर्मित हुई है। हिरण्यकशिपु को भी मूर्ति में दर्शाया गया है जिसका वध किया जा रहा है। मूर्ति कलात्मक ढंग से बनी है अतः सुन्दर बन पड़ी है। मन्दिर शिखर शैली का है। कहा जाता है कि मन्दिर का निर्माण दसवीं शताब्दी में रानी त्रिभुवन रेखा ने किया। ऐसा युगाकार सुपुत्र महाराजा शैलवर्मन्[1] द्वारा ताम्रपट पर उल्लेख मिलता है जिसका वर्णन चम्बा गैजिटियर ने भी किया है। युगाकार महाराजा शैलवर्मन् के पुत्र थे अतः त्रिभुवन रेखा युगाकार की माता थी, अनुमान लगाया गया है।

विष्णु भगवान का मन्दिर भरमौर के चन्हौता गांव में भी वर्तमान है। गरुड़ की सवारी पर विष्ण भगवान् को काष्ट की सुन्दर मूर्ति में दर्शाया गया है। मन्दिर छोटा-सा है। शायद बड़ा मन्दिर कभी नष्ट हो गया हो। यहां पर शिव मन्दिर भी है जिसकी दीवार पर विष्णु भगवान की पत्थर की मूर्ति चिन कर

---

1 शैलवर्मन् = साहिल वर्मा

लगाई गई है।

इसी प्रकार वस्तु क्षेत्र के कुंडी गांव में विष्णु का मन्दिर है जिसमें 'ठाकर' की मूर्ति रखी है। हर वर्ष नई फसल तैयार होने पर यहां जग दिया जाता तथा वैशाख की दस तारीख को यहां मेले का आयोजन होता है जिसे कुंडी जात्रा कहते हैं।

ब्रह्म—ब्रह्मा की मान्यता संस्कारिक विधि-विधान में है। मन्दिर और मूर्तियां नगण्य हैं। केवल दो मन्दिर ब्रह्माणी देवी के गांव सचूं (भरमौर के समीप) और भरमौर गांव के ऊपर ब्रह्माणी नामक स्थान पर है जहां के यात्री मनिमहेश जाते हुए स्नान करना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं।

गणेश—भरमौर क्षेत्र में गणेश की मान्यता प्रचलित है। गणेश का पूजन शुभ संस्कारों के आरंभ में किया जाता है। इसे विद्या और सुख-समृद्धि का देवता माना जाता है। प्रवेशद्वार पर गणेश की मूर्ति उकेरी जाती है। विशेष कर गूं क्षेत्र में हर गांव के प्रवेश पर चबूतरों पर गणेश की मूर्तियां रखी मिलती हैं। भरमौर की चौरासी में गणेश का छोटा-सा मन्दिर है जिसमें राजा मेरुवर्मन् के समय की कांस्य मूर्ति अब भी अपने समय का गौरव लिए अवस्थित है। गूं के तरैला नामक स्थान पर पत्थर की एक बहुत बड़ी मूर्ति है। गूं के ही पंढली नाला की पर्वतशिला पर कुटिल लिपि में एक शिलालेख खुदा हैं जिसके नीचे गणेश की मूर्ति उकीरी मिलती है। यह शिलालेख पांचवीं और छठी शताब्दी का बताया जाता है।

कार्तिकेय—कार्तिकेय भी शिव परिवार का देवता है। इसका वाहन मोर भी सदा साथ ही दर्शाया जाता है। काष्ट द्वार पर खुदे अन्य देवताओं के साथ कहीं इसे भी दर्शाया गया है। आम पूजन में प्रायः कार्ति-केय का पूजन नहीं होता है। कार्तिकेय स्वामी की कुलेठ गांव में एक छोटी सी छः मुख की काले प्रस्तर की एक विशाल मूर्ति है। इस मन्दिर को चम्बा राजा ने निःशुल्क भूमि प्रदान की हुई थी।

इस मूर्ति के विषय में जनश्रुति है कि एक पाहल (भेड़ का चरवाह) लकड़ी काटने हेतु नदी के किनारे गया। वहां वह अपनी कुल्हाड़ी को तेज करने लगा। जिस पत्थर पर वह कुल्हाड़ी तेज कर रहा था उससे खून की धारा बहने लगी। उसने पत्थर को पलट कर देखा तो षडमुख कार्तिकेय स्वामी की मूर्ति पाई। उसने उस मूर्ति को पीठ पर उठाया। वह ऊपर की ओर चलता रहा। कुलेठ गांव में उसने विश्राम किया। अब जब वह दुबारा मूर्ति उठाने लगा तो वह उठाने में असमर्थ रहा अतः वहां उसने मन्दिर की स्थापना की। अब यह मन्दिर टूट-फूट चुका है परन्तु स्थानीय लोगों ने इस का पुनर्उद्धार किया है।

जन्माष्टमी के दूसरे दिन यहां रात को जागरण होता है जिसमें स्थानीय श्रद्धालु एकत्रित होते हैं।

जिस समय तक नि:शुल्क भूमि का प्रावधान था, पुजारी हर दिन प्रात: मन्दिर में भोग लगाता था। अब यह प्रथा समाप्त हो चुकी है परन्तु स्थानीय लोगों का यह अराध्य देवता है।

नाग देवता—शिव वर्ग के देवताओं के बाद नाग देवता का स्थान है। नाग की भरमौर क्षेत्र में व्यापक मान्यता है। नागदेवता वर्षा का देवता है। जब कभी सूखा पड़ जाय तो जनजातीय लोग नाग की अराधना करते हैं। मन्दिर में जागरण किया जाता है तथा उपवास रखा जाता है। नाग देवता के मन्दिर में बलि भी दी जाती है परन्तु जहां नाग अमांस्त हारी हो तो उसे दूध और घी से पूजा जाता है। यह देवता वर्षा का देवता होने के साथ-साथ फसल और चरागाह का देवता भी है। इसका अपने क्षेत्र के पशुधन पर पूर्ण अधिकार है अत: लोग तब तक दूध और घी का प्रयोग नहीं करेंगे जब तक सम्बन्धित नाग को घी और दूध से नहीं पूजा जाय। नई फसल का प्रयोग तब तक नहीं किया जाता जब तक नई फसल का उपहार नाग को नहीं चढ़ाया जाता। नाग देवता का पूर्ण वातवर्या पर स्वामित्व माना जाता है।

विभिन्न नागों का व्योरा निम्न प्रकार से है—

केलंग—केलंग कलिहर नाग है। यह लाहौल की केलंग उपत्यका में रहा करता है। गद्दी लोग अपनी भेड़-बकरियां चराते लाहौल जाया करते हैं। केलंग नाग मेंढे के सींग पर स्वार होकर चलता-चलता भरमौर के कुगति क्षेत्र में पहुंचा। पशुओं में माहमारी फैली थी अत: उसने अपना मन्दिर कुगती नामक गांव में स्थापित करने के लिए कहा। केलंग का मन्दिर कुगती में स्थापित किया गया। भरमौर की जनजातीय जनता में केलंग की अपार मान्यता है। लोग हर्ष से केलंग के दर्शन करने जाते हैं। शारीरिक व्याधि के निवार्ण के लिए भी लोग वहां जाकर दर्शन करते हैं। श्रद्धालु केलंग का पहरावा वहां से उपहार रूप में प्राप्त करते हैं तथा पहरावे को पहन कर आते हैं। पहरावा लाल ऊनी वस्त्र का है। सिर के लिए लाल ऊनी टोपी और कमर में बांधने के लिए लाल पटका दिया जाता है। केलंग का चेला भी इसी प्रकार का पहरावा पहनता है।

मन्दिर पहाड़ी शैली का है तथा चरागाह के मध्य में स्थित है।

मनिमहेश की यात्रा के दूसरे दिन वहां भी यात्रा आरम्भ होती है। दूर-दूर से श्रद्धालु लोग मेले में शामिल होते हैं।

नाग पंजसेई—पंज सेई गांव भरमौर के समीप ही है। यह गांव भरमौर की सड़क के समीप 2 कि० मी० के फासले पर स्थित है। नाग का मन्दिर सुरम्य बणी (वृक्षों का झुंड) के मध्य में है। साथ ही कल-कल

करता झरना मन मोह लेता है। मन्दिर छोटा सा है जिसमें पत्थर की मूर्तियां हैं। मूर्तियां मानवाकार हैं तथा नाग भी साथ ही उकीरे हैं। स्थानीय लोग इस नाग को सचमुच ही वर्षा और जल दाता मानते हैं तथा उनमें प्रचलित अनुश्रुति है कि पंजसेई में पानी कमी थी। लोग दूर दूर नीचे नदी से पानी भरते थे। इस दशा को नाग भी सहन न कर सका अतः उसने नदी पार के गांव से नागनी से विवाह किया। नागनी जल-श्रोत भी अपने साथ लाई।

बणी के विषय में कहा जाता है कि इसके वृक्ष नहीं काटे जाते अतः दो सौ के करीब बन वृक्ष उसी तरह हर वर्ष हरे भरे दिखाई देते हैं। इसके विषय ने भी लोककथा है कि वहां पर सदा बाढ़ आती थी अतः नाग देवता ने वृक्ष लगा कर बाढ़ को थाम लिया। इन वृक्षों को काटने के लिए समाज का ही अंकुश नहीं है अपितु ऐसा करना पाप भी समझा जाता है।

इन्द्र नाग चन्हौता बणी—चन्हौता की बणी में इन्द्र नाग का प्रसिद्ध मन्दिर है। मन्दिर सुन्दर है। आसपास बैठने के लिए सुन्दर स्थल बने हैं। कुछ बरामदा नुमा कमरे भी बने हैं। यात्री वर्षा में वहां शरण ले सकते हैं। मन्दिर में मूर्तियां पत्थर नुमा हैं। पत्थरों पर मानवाकार मूर्तियां हैं। साथ में नाग के चित्र भी उकीरे हैं। साथ ही नीचे की ओर एक छोटा-सा मतड़ा (राक्षस देवता) का मन्दिर भी है। इसको सत्तु चढ़ाये जाते हैं। नाग देवता को बलि दी जाती है। इस मन्दिर के पुजारी पंडित पूर्ण जी हैं जिन्होंने नाग के चमत्कार की कई कथाएं सुनाई।

स्थानीय लोग नाग को नई फसल चढ़ाते हैं मन्दिर के साथ ही दयार के वृक्षों का झुंड है। कहा जाता है ये वृक्ष नाग के हैं अतः इन्हें काटने की मनाही है। ये वृक्ष एक हजार वर्ष पहले के लगते हैं। साथ ही पानी का सुन्दर झरना है।

इन्द्र नाग क्वार्सी—भरमौर के क्वार्सी नामक गांव में इन्द्रनाग का मन्दिर है। यह मन्दिर पहाड़ी शैली का है। काष्ट पर नक्काशी का सुन्दर कार्य हुआ है। नक्काशी दयार की लकड़ी पर हुई है। दयार की लकड़ी हजारों वर्ष के प्रयोग के बाद भी खराब नहीं होती। ऐसा लगता है यह मन्दिर डेढ़ हजार बर्ष से भी पुराना है क्योंकि इसकी नक्काशी बहुत पुरानी पड़ गई है। छतराड़ी और लक्षणा देवी के मन्दिर के समान लकड़ी में पुरानापन आ गया है। मन्दिर में अन्य मन्दिरों की तरह नाग देवता की मूर्तियां हैं। मन्दिर के परिसर में श्रद्धालुओं के लिए विश्राम गृह हैं। साथ ही दो तीन दयार के बहुत पुराने पेड़ हैं जो नाग देवता के माने जाते हैं। इनको काटा नहीं जाता। परिसर में ही ठंडे पानी का श्रोत है।

क्वार्सी एक सुन्दर स्थल है चारों ओर ऊंचे ऊंचे पर्वतों से घिरा है। गांव के आस पास सुन्दर देवदार के वृक्ष हैं। आने जाने के लिए कठिन रास्ते हैं। घोड़ा या टट्टु यहां नहीं पहुंचता। सर्दियों में अन्य स्थानों से सम्पर्क बिल्कुल टूट जाता है अतः यह गांव अलग-थलग पड़ जाता है। आज भी चिकित्सा की विशेष सुविधा नहीं है फिर पुराने जमाने में तो इसकी आशा करना ही असंभव सा था अतः लोग पूर्णतया इन्द्रुनाग की छत्र-छाया में पलते थे। क्वार्सी गांव के साथ ही दो गांव हेलंग और भरवाली हैं। वे भी इन्द्रु नाग की कृपा पर ही आश्रित हैं। इन गांव के अलावा भरमौर के अन्य स्थानों के लोग भी इन्द्रु नाग को मानते और अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाते हैं।

डल नाग क्वार्सी—क्वार्सी दर्रे पर, जहां से धर्मशाला को मार्ग जाल है, एक छोटी सी सुरम्य और गहरी झील है, जिसे स्थानीय लोग नाग-डल कहते हैं। यह नाग झील में ही रहता बताया जाता है। कांगड़ा और भरमौर के लोग इसके अराधक हैं। मनिमहेश मेले वाले दिन यहां भी एक मेला लगता है जिसमें विभिन्न स्थानों से आकर लोग स्नान करते हैं। लोग प्रातः यहां पहुंचते हैं। रात को यहां नहीं ठहरते।

इन्द्रु नाग के अन्य स्थानों पर भी मन्दिर हैं। गूं क्षेत्र के प्रीणा गांव में इन्द्रु नाग का मन्दिर है। साथ ही बासुकि नाग का भी मन्दिर है। यहां भी नाग की बणी थी। अब वृक्ष तो दिखाई नहीं देते परन्तु नाग के छोटे-छोटे मन्दिर अवश्य हैं।

बासुकि नाग सामरा—लिलह परगना और सामरा परगना के पर्वतीय शिखर पर बासुकि नाग का सुहावना मन्दिर है। मन्दिर के प्रवेश द्वार पर बैल की सुन्दर मूर्ति बनी है जिसे बछुआ कहते हैं। मन्दिर के एक ओर 'बीडनू नाग' का भी मन्दिर है जिसका पूजन सत्तु से किया जाता है। वासुकि नाग का अधिकार सामरा लिलहगूं और कलंदरा परगनों पर समझा जाता है। यहां के लोग नाग का घी और दूध से पूजन करते हैं। यह वर्षा का देवता है अतः वर्षा न होने पर यहां सैंकड़ों लोग एकत्रित होकर नाग की मान्यता में लीन रहते हैं।

यह पर्वतीय स्थल होने के नाते मनमोहक स्थान है। दूर-दूर का दृश्य यहां दृष्टिगत होता है। मन्दिर के आस-पास एक बहुत बड़ा स्पाट मैदान है जिसमें पशु चरते हैं।

देवता की करामात के विषय में बहुत-सी दंत कथाएं प्रचलित हैं। कहा जाता है कि एक दिन चरवाहे बच्चों ने नाग की मूर्ति खेल-खेल में पालकी पर उठाई हुई थी। इतने में पुजारी आ गया। वह उन बच्चों के कृत्य पर रुष्ट हुआ और गाली-गलोच करने लगा। बच्चों ने मूर्ति वहीं मन्दिर के बाहिर रख दी और भाग

गए। अब पुजारी अन्य लोगों की सहायता से मूर्ति को उठा कर मन्दिर में ले जाने लगा परन्तु मूर्ति भूमि से उठाई नहीं गई थी। लाखों प्रयत्न करने पर भी मूर्ति नहीं उठाई गई। अब पुजारी उन गवाले बच्चों के पांव पड़ा। बच्चों ने मूर्ति को एकदम से अंदर पहुंचाय। तब पता लगा कि नाग तो अबोध बच्चों के साथ खेल रहा था।

एक अन्य कथा के अनुसार एक गूजर द्वारा नाग की अवहेलना करने पर उसकी सारी भैंसे पत्थर बन कर रह गईं इत्यादि।

पढ़ौल नाग—बासुकि नाग की भांति पढ़ौल नाग की भी समान रूप से बेल्ज, लिलह, सामर, गूं और बस्सु इत्यादि क्षेत्रों में मान्यता है। इस क्षेत्र के लोग अपनी गाय का घी और दूध इस नाग को श्रद्धापूर्वक चढ़ाते हैं। यह नाग गूं क्षेत्र की लाहृण नामक धार पर बसा है। नाग के मन्दिर के साथ ही ठंडे पानी का झरना है। मन्दिर छोटा सा पहाड़ी शैली का है। मन्दिर में नाग की मूर्ति है जो अंशतः खंडित है। लोगों का विचार है कि यह मूर्ति भंजकों का काम है। ऐसा लगता है कि किसी मूर्ति भंजक ने इस पर प्रहार किए होंगे अतः यह अंशतः खंडित हो गई। कहा जाता है कि कुछ बर्ष पहले यह मूर्ति कहीं नीचे गांव की बस्ती में प्रतिष्ठित थी। एक दिन उसने अपने चेले को स्वप्न में आज्ञा दी कि चेला उस मूर्ति को पीठ पर उठाकर पहाड़ पर चढ़ता जाए और जहां वह मूर्ति उठानी असहय हो जाए तो उस स्थान पर उसकी स्थापना कर दी जाए। प्रातः होते ही चेले ने वैसे ही किया अतः उक्त ऊंची धार (चरागाह) पर इस नाग की स्थापना की।

आज लाखों श्रद्धालु बारी-बारी से घी और दूध लेकर यहां पहुंचते हैं। जाने के लिए मार्ग दुर्गम होते हुए भी लोग श्रद्धा के फूल चढ़ाने के लिए यहां पहुंचते हैं। इसकी करामात के विषय में भी बासुकि नाग की तरह कई चमत्कार की कथाएं प्रचलित हैं। कहा जाता है कि एक बिल्ली हर रोज नाग के मुंह को चाठ जाती थी। नाग उस पर कुपित हुआ और वह पत्थर की मूर्तिबन गई। आज लोग उस बिल्ली का भी पूजन करते हैं। बासुकि नाग की तरह अन्य कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि नाग अपने किसी भक्त पर प्रसन्न हुआ। उसको मुंह मांगा धन मांगने के लिए कहा गया। उसने भैंसे मांगी। नाग ने तथास्तु कहा परन्तु पीछे मुड़ कर देखने की मनाही की। जब वह चलने लगा तो सैकड़ों भैंसे उसके पीछे चलीं। वह चलता गया। आगे चलते-चलते वह उनकी गड़-गड़ाहट को संभाल न सका अतः उसने पीछे मुड़ कर देखा तो सभी भैंसे पत्थर बन गईं और वह भी शिला होकर सदा के लिए मूर्तवत् खड़ा रहा। लोग एक पंक्ति में पत्थर को गिना कर इस बात की पुष्टि करते हैं।

पढ़ौल नाग (मामल)—गूं क्षेत्र में मामल नाम का एक गांव है। वहां आज से तीस वर्ष पूर्व एक

ब्राह्मण रहा करता था। उसका नाम श्री गुमानी था। वह भी श्रद्धालु पंडित था परन्तु वह थोथे आदर्शवाद से हट कर कुछ यथार्थवादी था। वह रोज लोगों का तांता अपने गांव से पढ़ौल नाग जाते देखता। लोगों को कष्ट भी होता। उसने अपने गांव में ही पढ़ौल नाग की स्थापना कर दी अतः कुछ लोग तो वहीं पढ़ौल नाग का पूजन करने लगे। लेकिन उसके मरने के बाद उसकी मान्यता जाती रही। लोग असली पढौल नाग को मानते हैं।

काति नाग—काति नाग वास्तव में कार्तिक नाग ही है। इसकी स्थापना पियूहर परगना की पर्वत श्रृंखला पर की हुई है। दूर-दूर के लोग इसका पूजन करने जाते हैं। विशेष कर घी और दूध से पूजन होता है।

इन्द्र नाग गहरा—इसकी स्थापना गहरा नामक गांव में उस नाग के चेले श्री चतरो राणा ने की है। वह नाग के चमत्कार के विषय में कई निजी घटनाएं सुनाते हैं। वह इस नाग को अपने घर में ही बसाए हैं। वह अन्य नागों को भी मानते हैं।

बढौर नाग—पियूहर परगना में एक सुप्रसिद्ध चमत्कारी नाग बढौर नाग है। श्री चतरो राणा ही इसके चेला भी हैं। यह नाग भी अन्य नागों की तरह कहीं ऊंची चरागाह में बसा है। इस नाग को पांच मेंढों की बलि दी जाती है। इस प्रथा को पंजबला कहा जाता है। वर्षा न होने पर इस नाग की उपासना की जाती है।

इस नाग की करामात के विषय में कई दंत-कथाएं प्रचलित हैं। कहते हैं कई वर्ष पहले इलाके में भयंकर अकाल पड़ा। लोग इस इलाके को छोड़ कर कांगड़ा चले गए। वहां का राणा भी अपना क्षेत्र छोड़ कांगड़ा को जा रहा था कि रास्ते में गद्दी के वेष में नाग मिला और नाग ने राणा को इस शर्त पर वापस किया कि कम से कम उस दिन वर्षा का इंतजार किया जाए। राणा वापस हो गया। रात को खूब वर्षा हुई तथा सृष्टि फिर से अंगड़ाइयां लेने लगी। लोग आज भी बढौर नाग को सिरमाथे मानते हैं।

नाग प्रीणा—गूं क्षेत्र के प्रीणा नामक गांव में चार पांच नाग के अलग से 'बणी' नामक स्थान में मन्दिर हैं जिनमें इन्द्र, वासुकि भी शामिल हैं। ऐसा लगता है कई वर्ष पूर्व इन मन्दिरों की बहुत मान्यता थी। अब भी इनका सामान्य ढंग से पूजन होता है।

सूर्य—भरमौर की जनजातीय जनता सूर्य का भी पूजन करती हैं। पानी के पनिहारों पर अन्य देवी-देवताओं के अलावा सूर्य को भी प्रधानता दी है। छतराढ़ी नामक गांव के ऐसे ही पनिहार पर लगाए एक

पत्थर पर सूर्य को ऊपर की पंक्ति में दो हाथ में कमल लिए तथा सात घोड़ों पर सवार बताया गया है। सुनारा नामक गांव में एक पत्थर के चबूतरे पर सूर्य का पत्थर पर बना एक चक्र रखा है जिसे शिवाजी मान कर पूजा जाता है। गूं क्षेत्र में शिवशक्ति के मन्दिर में द्वारपाल के स्थान पर सूर्य की पत्थर की छठी शताब्दी की पुरानी मूर्तियां रखी हैं। सूर्य सात घोड़े के रथ पर सवार बैठे हैं। इन मूर्तियों में से एक अब भूरिसिंह संग्रहालय में लाई गई है। कई लोग सूर्य को पूर्व की ओर मुंह करके पानी चढ़ाते हैं।

वीर—लोग 'वीर' को भी मानते हैं। लखदाता और गुग्गे को भी वीर की संज्ञा दी जाती है। गुग्गा की स्थान स्थान पर मढ़ियां (मन्दिर) हैं। गुग्गा नवमीं से नौ दिन पूर्व गुग्गा को कपड़े के छत्र के रूप में प्रतीक रूप में घर-घर ले जाया जाता है। लोग अपने घरों में आने की खुशी में गुग्गे का पूजन करते हैं। साथ चले जलूस में श्रद्धालु लोग नौ दिन उपवास करते हैं तथा केवल फलहार के सहारे रहते हैं। गुग्गा नवमी को गुग्गे का विशेष पूजन होता है। कहीं-कहीं गुग्गे की मूर्तियां भी रखी हैं।

भरमौर क्षेत्र को छोड़ पियूर, बस्सु, लिल्ह और गूं आदि क्षेत्रों में इस प्रकार की प्रथा प्रचलित है तथा इस प्रकार के जलूस को गुगैहल कहा जाता है।

अन्य वीरों में अजियपाल, कैलु और नारसिंह हैं।

अजियापाल को लोगों के घरों में स्थापना है। कोई सार्वजनिक मुख्य मन्दिर दृष्टिगत नहीं। नारसिंह का भी विशेष मन्दिर नहीं। भरमौर में सुप्रसिद्ध मन्दिर नृसिंह का है न कि नारसिंह का। नारसिंह श्वेतवस्त्र धारी रात को जलता-फिरता देवता बताया गया है। यह औरतों का आशक भी है। लोक विश्वास है कि श्वेतचर्म वाली मनुष्य जाति इसकी संतान होती है जिन्हें स्थानीय भाषा में 'हन्छु' कहा जाता है।

देवी श्रेणी—देवी श्रेणी के देवताओं में काली, शक्ति चौंड (चामुंड) शीतला, व्रणास्त, वणखंडी, जालपा, इत्यादि हैं।

काली—लोगों में काली की अत्यधिक मान्यता है। ऊंचे पर्वतों पर इसकी स्थापना की गई है। काली को बलि देकर मनाया जाता है। कई पर्वतीय स्थल ऐसे भी हैं जहां काली का 'अंदरोल' माना जाता है। उस सीमित क्षेत्र में किसी प्रकार की गंदगी फैलाना विवर्जित समझी जाती है। वहां रहने वाले पाहल, पुजारी और आगंतुक जीवन की शुद्धता रखना बड़ा अनिवार्य समझते हैं। काली के कुपित होने पर जीवन खतरे से खाली नहीं इस प्रकार के अंदरोल कई ऊंची चरागाहों पर लागू हैं। कहीं-कहीं झीलों पर काली का अधिकार बताया है। धौलाधार पर्वत पर एक स्थान पर काली का डल है। चांजु नामक स्थान पर। पांगीघाट पर काली का एक डल है जहां सावन मास में एक मेला लगता है। काली का पूजन मंगलवार को श्रेष्ठ माना जाता है। संज

में आटे की बनाई और पकाई बनावटी बकरी अवश्य काटी जाती है।

इसी प्रकार वणास्थ और बणखंडी भी काली के ही रूप माने जाते हैं जिनकी स्थापना चरागाहों और विहड जंगलों मे की गई है। पूजन-सामग्री काली के उपयुक्त ही प्रयोग में होती है।

जालपा —जालपा हमेशा जल में ही रहती है। लिलह नाला में जालपा का पानी के किनारे मन्दिर है। इसकी बहुत मान्यता है। साहो क्षेत्र तक के लोग इसका पूजन करते हैं।

कालका—कालका भी इसी श्रेणी की देवी है। इसके स्मारक कई लोगों ने घर पर रखे हैं।

शीतला—शीतला की मान्यता भी भरमौर क्षेत्र में कम नहीं। शीतला कई व्याधि निर्वाण देवी है। इसका भरमौर चौरासी में मन्दिर है। नांगा बाबा जी ने संगमरमर की मूर्ति बनवा कर प्रतिष्ठित की है। गूं क्षेत्र के पंढली नाला में भी शीतला माता का मन्दिर है। इसकी स्थानीय लोगों में मान्यता है। पत्थर की मूर्ति में शेर की सवारी शीतला का मूर्त्तरूप दिया है।

चौंड या चामुण्ड एनाहण—चौंड माता के विभिन्न स्थानों पर मन्दिर बनाए हैं। सामरा परगना में सनाहण गांव में चामुंड-भगवती का पहाड़ी शैली में एक मन्दिर बना है। गूं लिलह, सामरा और बस्सु के लोग इस की मान्यता में समय-समय पर जात्रा और जागरण करते हैं। हाड़मास में यहां एक मेला आयोजित किया जाता है जिसमें इन क्षेत्रों के लोग सम्मिलित होते हैं। यहां के लोग नई फसल का प्रयोग भी इस देवी को पूजने के बाद करते हैं। बस्सु में भी चामुंडा का छोटा-सा मन्दिर है।

बन्नी भगवती तुंदाह—भरमौर के तुंदाह परगना में काली का मन्दिर है जो बन्नी भगवती के नाम से अधिक मानी जाती है। इस भगवती का स्थानीय लोगों के अतिरिक्त जिला चम्बा और कांगड़ा की जनता द्वारा भी पूजन होता है। मौसम खुलते विभिन्न स्थानों से लोग श्रद्धा के फूल चढ़ाने आते हैं। कुछ लोग परगना बेलज से होकर बन्नी पहुंचते हैं। अधिकांश लोग चम्बा-भरमौर सड़क पर ढकोध नामक स्थान पर बस से उतर जाते हैं और फिर पैदल बन्नी पहुंचते हैं। अन्य लोग भरमौर के लाहल नामक स्थान पर बस से उतर कर फिर पैदल बन्नी जाते हैं। चारों ओर से मार्ग तो कठिन हैं फिर भी लोग अपनी मनोकामना लेकर वहां जाते हैं। मन्दिर में हर समय पशु काटे जाते हैं। मन्दिर साधारण पहाड़ी शैली का है। कलात्मकता विशेष नहीं। लोग देवी की करामात के लिए ही माथा टेकते हैं।

शक्ति देवी छतराढी—शक्ति छतराढी को कौन नहीं जानता। मूर्ति और मन्दिर अपनी कलात्मकता के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। मूर्ति अपने इतिहासकता के लिए प्रसिद्ध है। इस मूर्ति को चम्बा के राजा मेरुवर्मन ने आठवीं शताब्दी में स्थापित किया था। इसके निर्माता गुग्गा नामक मूर्तिकार हैं। इसकी पीढ़ी पर एक कुटिल लिपि में शिला लेख खुदा है जो उस समय के ब्रह्मपुर (पुराना चम्बा राज्य) के विस्तार पर

प्रकाश डालता है। इतने समय की पुरानी मूर्ति अपना अब भी वैभव लिए है।

साथ कलात्मक शैली में लकड़ी का मन्दिर बना है। कहा जाता है कि इसे भी गुग्गा ने बनाया था। यह उसकी अंतिम कलात्मक कृति थी। दंत कथा है कि यह लकड़ी का मन्दिर अपनी धुरी के इर्द-गिर्द घूमा करता था जो बाद में 1905 ई० के भूचाल में नष्ट प्रायः हो गया। मन्दिर की लकड़ी पर चारों ओर नक्काशी का काम हुआ है तथा संगमों पर देवी-देवताओं के चित्र खुदे हैं। मन्दिर के गर्भ-गृह में अठारहवीं शताब्दी के भित्ति चित्र खुदे हैं जिनका प्रधान विषय पौराणिक देवी देवता हैं।

मन्दिर का प्रबन्ध इस समय मन्दिर समिति के हाथ है परन्तु देख-रेख भारतीय पुरातत्व विभाग के अधीन है।

जिला चम्बा में इसकी मान्यता है। अभी तक बलि प्रथा प्रचलित है। मनी महेश मेले के दूसरे दिन से यहां तीन मेले आयोजित किये जाते हैं। स्थानीय वेश-भूषा में गद्दी नृत्य देखने योग्य होता है।

छतराड़ी चम्बा से भरमौर की ओर बत्तीस कि० मी० पर लूणा नामक स्थान से 5 कि० मी० जीप से पहुंचा जाता है।

प्रौली वाली भगवती—प्रौली वाली भगवती छतराड़ी देवी की छोटी बहन मानी जाती है। इसका मन्दिर छतराड़ी में ही प्रौली स्थान पर है। इस मन्दिर के आस-पास काली मिट्टी है। लोगों का विश्वास है कि छतराड़ी शक्तिदेवी आदि सात बहनें थीं। प्रौली वाली सबसे छोटी बहन थी। बटवारे के समय वह तुला खोजने मेढ़ी नामक गांव में गई जहां एक बुढ़िया ने बहाना ढूंढ़ कर उसे छाछ बिलोने में व्यस्त रखा। उधर धन का बटवारा हो गया। वह बेचारी धन से वंचित रही और इतनी रोई कि मिट्टी भी काली हो गई। वह वहीं प्रौली में रहने लगी। लोग इस भगवती को समान मान्यता देते हैं।

कलहौली कुलेठ—कुलेठ में कलहौली देवी का मन्दिर है। लोगों में अथाह मान्यता है।

कूंर में भी काली का मन्दिर है। लोगों में मान्यता है। बेलज में भी एक काली का मन्दिर है।

कहीं-कहीं सती के मन्दिर भी विद्यमान हैं।

भरमौर लक्षणा देवी—भरमौर में भी शक्ति देवी का मन्दिर है जिसे स्थानीय लोग लक्षणा से जानते हैं तथा अन्य लोग महिषासुर मर्दिनी से जानते हैं। मूर्ति छतराड़ी शक्ति देवी की समकालीन है और गुग्गा मूर्तिकार ने ही बनाई है। मन्दिर भी उसी कारीगर का बनाया बताया जाता है। लकड़ी पर उसी प्रकार सुन्दर और कलात्मक नक्काशी हुई है।

देवी ने महिषासुर पर बर्छे से वार किया है। असुर की शक्ल भैंसे जैसी दी है। अब भी लोगों में देवी के प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना ओत-प्रोत है।

यह मन्दिर भी आज कल भारतीय पुरातत्व विभाग की देख-रेख में है ।

मनी महेश यात्री मनी महेश के पूजन के बाद इन मूर्तियों का पूजन करते हैं ।

अन्य राक्षस और पिशाच देवी देवता—राक्षस और पिशाच देवी देवताओं की गिनती इस प्रकार है— चुड़ेल, बताल, मतड़ा, चीड़नू, चुंघु, लौकंड़ा, तालड़, रागस, जटीधार ।

पिशाच देवता मनुष्य के प्रतिदिन के जीवन में बाधा डालते हैं अतः अन्य देवताओं के साथ-साथ उन का पूजन भी अनिवार्य समझा जाता है । कहीं-कहीं तो इस प्रकार के राक्षस देवताओं की मान्यता के लिए मन्दिर भी बनाए गए हैं ।

चीड़नू नाग है यदि आप इसका भी पूजन न करें तो गाय के बछड़े को चीड़न (एक प्रकार की पशु की जूं) अवश्य हानि पहुंचाएंगे अतः कई नाग मन्दिरों के साथ चीड़नू का मन्दिर भी होता। वासुकि नाग के मन्दिर के साथ इसका भी मन्दिर है ।

चणहौता के इन्द्रुनाग के साथ ही रागस देवता (मतड़ा) का भी मन्दिर है। भरमौर के अदराल नामक गांव में 'तालड़' देवता का मन्दिर है। रागस का भरमौर के लामु नामक गांव में भी मन्दिर है । जटीधार का मन्दिर कहीं कांगड़ा में बताया है ।

पितृदेवता—पितृदेवताओं में 'औतर' देवता मुख्य हैं । निस्संतान व्यक्ति की आत्माएं भटकती रहती हैं अतः आत्मा के आदेश पर उनके मोहरे उतार कर या तो सम्बन्धी द्वारा गले में डाले जाते हैं या मूर्ति बना कर कहीं पानी के पनिहार पर रखा जाता है या कहीं घर की दीवार में मन्दिर बनाकर रखा जाता है । कभी-कभी अमावश्य को दूध, घी, छाछ से इनका पूजन किया जाता है ।

नौण देवता—कोई समय था जब कहीं समूचा जनसमुदाय पानी भरने क लिए कहीं जलस्रोत को बावलियों में बदल कर सार्वजनिक स्थान बना लेता था । दो या तीन गांव इस सार्वजनिक स्थान से जुड़े हुए होते थे । इस सार्वजनिक स्थान को पनिहार (पनघट) के नाम से जाना जाता था । पनिहार की दीवारों पर बड़ी शिलाओं में पौराणिक देवी-देवता की मूर्तियां उकीर कर पूजनार्थ रख ली जाती थीं। इन शिलाओं को विभिन्न हिस्सों में बांट कर देवी देवताओं की श्रेणियां दी जाती थीं जैसे सूर्य, वरुण, नदियां, विष्णु भगवान् के विभिन्न अवतार इत्यादि ।

इस प्रकार के अवशेष कहीं-कहीं अब भी विद्यमान हैं । इस प्रकार के 'नौण' अब छतराढ़ी में भी देखे जाते हैं । कुछ अवशेष प्रीणा के पनिहार में भी हैं । भरमौर के नौण पत्थर पर अवशेष विद्यमान है । भरमौर नागुंह में भी ऐसे पत्थर अवस्थित हैं। वस्सु के दरोबी नामक गांव के 'पनिहार' पर भी अवतार खुदे हुए देखे जा सकते हैं । इस प्रकार का उत्कृष्ट नमूना बस्सु परगना के तागी नामक गांव में है जहां पौराणिक विष्णु अवतार मूर्त्त किए गए हैं ।

इन नौणों को पूजा-सामग्री से पूजने की प्रथा नहीं अपितु प्रातः ही इन्हें पानी से नहलाना परम धर्म समझा जाता है ।

गांव प्रीणा
बरास्ता मैहला
जिला चम्बा (हि० प्र०)

कुमारसैन रियासत का भारथ

☐ अमृतकुमार शर्मा

हिमाचल अपनी कला एवं संस्कृति के लिए प्रख्यात है। यहां की कोई भी ऐसी जगह नहीं है जहां की कोई रोमांचित गाथा न हो। हिमाचल की लोक भाषा जो विभिन्न प्रकार के लहजों में विभिन्न-विभिन्न जिलों में बोली जाती है की कोई निर्धारित लिपी नही है, केवल हिन्दी भाषा को ही तोड़-मरोड़ कर बोला जाता है। यहां के लोगों ने अपनी-अपनी भाषाओं के ऐसे शब्द निकाले हैं जिन्हें सुनते अपरिचित तो क्या स्वयं प्रवक्ता भीउस की मधुरता से मन्त्रमुग्ध हो जाता है। हिमाचली लोक कथाएं, गाथाएं, लोकगीत आज भारत में लोकप्रियता प्राप्त कर रहे हैं इसका यदि एकमात्र श्रेय किसी को जाता है तो वह मेरी नजरों में हिमाचल प्रदेश कला-संस्कृति-भाषा अकादमी को है, जिस विभाग ने हमारी प्रादेशिक भाषाओं को उभारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है और दे भी रही है अन्यथा किसी लिपिहीन भाषा को इतना उभारना कठिन ही नहीं असम्भव भी है परन्तु इस विभाग ने इस ओर काफी उन्नति की है और विभिन्न भाषाओं के मनोभाव को प्रकट करने में अब सरलता अनुभव हो रही है। यह कोई आप प्रशंसा नहीं अपितु वास्तविकता है अकादमी इस क्षेत्र में बधाई की पात्र है।

इन्हीं प्रादेशिक भाषाओं की सुन्दर मधुर गुत्थी से जुड़ा "कुमारसैन रियासत का भारत" भी है। "भारंत" का तात्पर्य महासवी भाषा में किसी के इतिहास से होता है, अतः "कुमारसैन का इतिहास" यह भारत कुमारसैन के राजाओं से सम्बन्धित है इसमें उनके कुमारसैन आगमन पर उनके लिवास, कार्य की गाथा है जो अक्सर गाई जाती है यह राजा यहां पर कहां से आए, क्यों आए, इसका विवरण मैं सोमसी के जनवरी 1982 के अंक में कर चुका है। अब केवल उस "भारत" का उल्लेख कर रहा हूं जो गाया जाता है और इस भारत "इतिहास" को यहां की ऐतिहासिक पुस्तक बहारे कुमारसैन में भी सम्पादित किया गया है जो स्वर्ण अक्षरों में उर्दू भाषा में प्रकाशित है।

यह भारत (इतिहास) इस प्रकार गाया जाता है—

सोने रा छतरू, गाणों रूपे रा डाडां,
करागला उदां लागा, चौऊ मेंडू ओ बाडां।

उपरोक्त पंक्तियों में उन राजाओं के बंटवारे के विषय में कहा गया है जो चार भाई गया जी (बिहार) से आए थे और जिला शिमला के करागलो नामक स्थान पर उनका पहला पड़ाव अपनी उत्तराखण्ड यात्रा के समय पड़ा था। करागल शोली नामक जगह के परगणे को कहते हैं। यहां पर उन्होंने दानव भन्बुराय का वध करके कीर्ति अर्जित की थी वह चार भाई यहीं से प्रसिद्ध हुए थे। अतः उनके बटवारे पर यह पंक्तियां गाई गई हैं। इन पंक्तियों के अनुसार गया से आए उन वीर बहादुरों के 'सर पर सोने के छतर झूल रहे हैं जिनकी मुठ यानी डंडा चांदी से मड़ा हुआ था। उन चारों भाईयों का बटवारा करांगला से शुरू हुआ !

जैंस केपु कनार, तेल सेन्जु रा रोपा,
जिस मेरी, मदावण, तिस खेखरा रोंवा,

इस पंक्ति में उन चारों भाईयों को बांटी गई जमीन का ब्यौरा है। यह जमीन केपू कनार, सन्ज का क्यार मदावण की जगह और खेखर का क्यार है जो राजा ने कुमारसैंन के आगमन के बाद अपनी धन सम्पदा में मे अर्जित की।

सोने रा छतरू, गौषे रूपा री गेटी,
परोल करागले, चौऊ गैंडुए री जेठी,

इस पंक्ति में महल के मुख्य द्वार का वर्णन किया गया है। अत: गया जी से आए इन वीरों जिनके पास चांदी की मुठ वाले सोने के छत्र है इनके पास चांदी की ही अगेठी है और करागला का जो महल है वह सब महलों से जो चार भाईयों ने बटवारे के बाद बनाए हैं बड़ी परोल अर्थात मुख्य द्वार वाला महल है।

तेथू औदों आज रोज मधावण बासे
तिनी लाए मदावण कैलू रे नासे।

इस पंक्ति में कहा गया है कि बटवारे के बाद जब सबसे बड़ा भाई महाराणा कीर्ति सिंह मधावणी में पहुंचा तो उसने अपने निवास को जो महल बनाया वह केलों की लकड़ी का महल है उसमें केलों की लकड़ी का इस्तेमाल कलात्मक ढंग से हुआ।

तेथू औंदा आज राजे खमारषेण ठाए,
ठारू चाक्के कुम्हारे दैंत शान लाए,

अर्थात्, जहां पर आज कुमार सैन के राजाओं का राजमहल है वहां पर पहले मट्टी के बर्तन बनाने वाले कुम्हारों के अठारह चक्के अर्थात् परिवार रहते थे।

तेरे खमारषणें बीगड़ी माटी,
गैंडे री गुलड़ी मुशे डुने री काटी,

इस पंक्ति में राजा कीर्तिसिह के प्रथम कुमारसैन प्रवेश पर हुए चमत्कार का वर्णन है, और राजा के मनोभाव को व्यक्त किया गया है अतः ए कुमारसैन तेरी ऐसी प्रभावशाली मिट्टी है जहां पर चूहा बिल्ली को मार सकता है।

देओ उदी कोही रो नैंयो ऐज्ञ मांगी,
भूरो जांगा डैन्न रैं, कौंडा मेरे सौंगे।

इस पंक्ति में बताया गया है कि जब राजा कीर्तिसिह ने कुमारसैन जहां आज महल है पर चूहे का बिल्ली को मारने वाला अनोखा दृश्य देखा तो वह यहां के इष्ट कोटेश्वर महादेव के पास गया और इस अद्भुत बात के विषय में पूछा और अपनी दुविधा का अन्त चाहा।

देवा दिता कोही रा पूछणा लाया,
कुण औला छौतरे केतै जिन् ठाए।

जब राजा ने अपनी समस्या देवता श्री कोटेश्वर महादेव के पास रखी तो श्री देवता जी ने कहा तुम किस खानदान के क्षत्री हो और तुम्हारी जन्मभूमि कहा है यह बातें देव आकाशवाणी से हुई ऐसा कुमार सैन की इतिहासिक पुस्तक में लिखा है।

सूरजबंशी छतरी औसू ता गया रा,
राज़ा गछी छोड़ पदमै उतरू खौड़े के आजा,

अर्थात् राजा ने कहा मैं सूर्यवंशी क्षत्री हूं और गयाजी से यहां आया हूं, मैंने गयाजी का राज सिंहासन अभिशाप वंश त्यागा है और उतराखंड की पैदल यात्रा पर निकला हूं।

देवतै कोटी रैं बोचड़ू थारा बेश्
राज आपी कौरू चाउंदा थारा

कुमारसैन रियासत के 'भारथ' की इस अन्तिम पंक्ति में गाया गया है कि महादेव और राजा की बातचीत के बाद जब राजा ने अपना तन-मन-धन व श्रद्धा श्रीमहादेव के चरणों में अर्पित की तो उस पर श्री कोटेश्वर महादेव ने प्रसन्न होकर कहा "मैं तुम पर प्रसन्न हूं अतः कुमारसैन का राज जो अभी मेरे अधिकार में है तुम्हें सौंपता हूं बाहरी राज तुम्हारा होगा और अन्दरुनी निगरानी मेरी रहेगी।

उपरोक्त यह संवाद कुमारसैन का भारथ (इतिहास), जहां सम्पूर्ण राज गाथा सुनाता है वहीं दूसरी ओर यह कुमारसैन की आज से दो हजार वर्ष पुरानी भाषा को भी छलकता है जहां आज हम भाषा में काफी परिवर्तन पाते हैं। यह संवाद या 'भारथ' आज कुमारसैन की जुबान से दूर होते जा रहे हैं, यदाकदा कभी किसी बजुर्ग के मुख से सुने जाते हैं, परन्तु इन संवादों की मधुरता तो अमर रहेगी और सदा-सदा के लिए कुमारसैन के इतिहास से जुड़ी रहेगी।

श्रीकोटेश्वर कृपा निवास
गांव व डाकघर किंगल
जिला शिमला हि० प्र०-172024

H.A.A.C.L.

पञ्जी सं० 28271/75

सचिव, हिमाचल कला-संस्कृति और भाषा अकादमी, शिमला द्वारा प्रकाशित तथा
जोशी मुद्रणालय, लाजपतराय मार्ग, शिमला 171 001 द्वारा मुद्रित।